सभी वस्तुओं में ईश्वर-बुद्धि करो,
समझो कि ईश्वर सब में है।

— स्वामी विवेकानन्द

विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष : २९ अंक १

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी–फरवरी–मार्च

• १९९१ •

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सह–सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक

स्वामी त्यागात्मानन्द

वार्षिक १०)

एक प्रति ३)

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर-४९२ ००१ (म.प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : नईदुनिया प्रिंटरी, इन्दौर–४५२००९ (म. प्र.)

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण - विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष २९] जनवरी-फरवरी-मार्च [अंक १

★ १९९१ ★

भिक्षान्न महिमा

भिक्षाहारमदैन्यमप्रातिसुखं भीतिच्छिदं सर्वतो
दुर्मात्सर्यमदाभिमानमथनं दुःखौघविध्वसनम् ।
सर्वत्रान्वहमप्रयत्नसुलभं साधुप्रियं पावनं
शम्भोः सत्रमवार्यमक्षयनिधिं शंसन्ति योगीश्वराः ।।

भिक्षा का भोजन दैन्यरहित है, अतुलनीय सुखकारी है, सर्व प्रकार के भय को दूर करता है, ईर्ष्या-मद-अभिमान आदि दुर्गुणों को कुचल डालता है, दुःखों के प्रवाह का नाश करता है, सर्वत्र दिन पर दिन सहज ही प्राप्त होता है, पवित्र है और साधुजन का प्रिय है। यह भगवान शिव का खुला हुआ अक्षय कोष है, अतः योगीगण इसकी प्रशंसा किया करते हैं।

—भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्' ३०

अग्नि-मंत्र

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

शिकागो

२ नवम्बर १८९३

प्रिय आलासिंगा,

कल तुम्हारा पत्र मिला। मुझे खेद है कि मेरी एक क्षणिक कमजोरी के कारण तुम्हें इतना कष्ट हुआ। उस समय मैं खर्चे से तंग था। उसके बाद प्रभु की प्रेरणा से मुझे बहुत से मित्र मिल गये। बोस्टन के निकट एक गाँव में हार्वर्ड विश्वविद्यालय के यूनानी भाषा के प्रोफ़ेसर डा. राइट से मेरी जान-पहचान हो गयी। उन्होंने मेरे प्रति बहुत सहानुभूति दिखायी और इस बात पर ज़ोर दिया कि मैं धर्म-महासभा में अवश्य जाऊँ, क्योंकि उनका विचार था कि उसके द्वारा मेरा परिचय सम्पूर्ण अमेरिका से हो जायगा। चूँकि वहाँ किसी से मेरी जान-पहचान न थी, इसलिए प्रोफ़ेसर साहब ने मेरे लिए सब बन्दोबस्त करने का भार अपने ऊपर लिया और उसके बाद मैं फिर शिकागो आ गया। यहाँ धर्म-महासभा में आये हुए पूर्वी और पश्चिमी देशों के प्रतिनिधियों के साथ मेरे ठहरने की व्यवस्था एक सज्जन के मकान में हो गयी है।

महासभा के उद्घाटन के दिन सुबह हम लोग 'आर्ट पैलेस' नामक एक भवन में एकत्र हुए, जहाँ एक बड़ा और कुछ छोटे-छोटे हाल सभा के अधिवेशनों के लिए अस्थायी रूप से निर्मित किये गये थे। सभी राष्ट्रों के लोग वहाँ थे। भारत से ब्राह्म समाज के प्रतापचन्द्र मजूमदार थे, बम्बई से नगरकर, जैन धर्म के प्रतिनिधि वीरचन्द गाँधी थे, थियोसाफी के प्रतिनिधि श्रीमती एनी बेसेन्ट तथा चक्रवर्ती

थे। इन सबमें मजूमदार मेरे पुराने मित्र थे और चक्रवर्ती मेरे नाम से परिचित थे। शानदार जुलूस के बाद हम सब लोग मंच पर बैठाये गये। कल्पना करो, नीचे एक बड़ा हाल और ऊपर एक बहुत बड़ी गैलरी, दोनों में छः-सात हजार स्त्री-पुरुष जो इस देश की सर्वोत्कृष्ट संस्कृति के प्रतिनिधि हैं, खचाखच भरे हैं तथा मंच पर संसार की सभी जातियों के बड़े-बड़े विद्वान् एकत्र हैं। और मुझे, जिसने अब तक कभी किसी सार्वजनिक सभा में भाषण नहीं दिया, इस विराट् जनसमुदाय के समक्ष भाषण देना होगा!! उसका उद्घाटन बड़े समारोह से संगीत और भाषणों द्वारा हुआ। तदुपरान्त आये हुए प्रतिनिधियों का एक-एक करके परिचय दिया गया और वे सामने आ-आकर अपना भाषण देने लगे। निःसन्देह मेरा हृदय धड़क रहा था और ज़बान प्रायः सूख गयी थी। मैं इतना घबड़ाया हुआ था कि सबेरे बोलने की हिम्मत न हुई। मजूमदार की वक्तृता सुन्दर रही। चक्रवर्ती की तो उससे भी सुन्दर। दोनों के भाषणों के समय खूब करतल-ध्वनि हुई। वे सब अपने अपने भाषण तैयार करके आये थे। मैं अबोध था और बिना किसी प्रकार की तैयारी के था। किन्तु मैं देवी सरस्वती को प्रणाम करके सामने आया और डा. बरोज ने मेरा परिचय दिया। मैंने एक छोटा सा भाषण दिया। मैंने सभा को इस प्रकार सम्बोधित किया, "अमेरिका-वासी बहनो और भाइयो!" इसके बाद ही दो मिनट तक ऐसी घोर करतल-ध्वनि हुई कि कान में अँगुली देनी पड़ी। फिर मैंने आरम्भ किया। और जब अपना भाषण समाप्त करने के बाद बैठा, तो भावावेग से मानो मैं अवश हो गया था। दूसरे दिन सब समाचार-पत्रों में छपा कि

मेरी ही वक्तृता उस दिन सब से अधिक सफल रही थी। पूरा अमेरिका मुझे जान गया। महान् टीकाकार श्रीधर ने ठीक ही कहा है——मूकं करोति वाचालम् अर्थात् जिसकी कृपा मूक को भी धाराप्रवाह वक्ता बना देती है, वह प्रभु धन्य है! उस दिन से मैं विख्यात हो गया और जिस दिन मैंने हिन्दू धर्म पर अपना निबन्ध पढ़ा, उस दिन तो हाल में इतनी अधिक भीड़ थी, जितनी पहले कभी नहीं हुई थी। एक समाचारपत्र का कुछ अंश उद्धृत करता हूँ—— 'केवल महिलाएँ ही महिलाएँ, कोने कोने में, जहाँ देखो, वहाँ ठसाठस भरी हुई दिखायी देती थीं। अन्य सब वक्तृताओं के समाप्त होने तक वे किसी प्रकार धैर्य धारण कर विवेकानन्द की वक्तृता की बाट जोहती रहीं', इत्यादि। तुम्हारे पास यदि मैं समाचारपत्रों की कतरनें भेजूँ, तो तुम आश्चर्यचकित हो जाओगे। परन्तु तुम जानते हो कि मैं नाम-यश से घृणा करता हूँ। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जब कभी मैं मंच पर आया तो घोर करतल-ध्वनि से मेरा स्वागत किया गया। प्रायः सभी पत्रों ने मेरी प्रशंसा के पुल बाँध दिये और उनमें जो बड़े कट्टर थे, उन्हें भी स्वीकार करना पड़ा कि 'यह मनुष्य अपनी सुन्दर आकृति, आकर्षक व्यक्तित्व और आश्चर्यजनक वक्तृत्व के कारण सम्मेलन में सबसे प्रमुख व्यक्ति है'—— इत्यादि, इत्यादि। तुम्हें इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि इसके पूर्व कभी किसी प्राच्य व्यक्ति ने अमेरिकी समाज पर इतना गहरा प्रभाव नहीं डाला था।

अमेरिकावासियों की दया का बखान मैं कैसे करूँ? मुझे अब किसी वस्तु का अभाव नहीं। मैं बहुत अच्छी

तरह हूँ। यूरोप जाने के लिए आवश्यक धन मुझे यहाँ से मिल जायगा। इसलिए तुम लोगों को कष्ट सहकर रुपये भेजने की आवश्यकता नहीं। एक बात पूछनी है—क्या तुम लोगों ने ८०० रु. एक ही साथ भेजे थे ? कुक कम्पनी से मुझे केवल ३० पौंड ही मिले हैं। तुमने और महाराज ने अगर अलग अलग रुपये भेजे हैं, तो अभी तक कुछ रकम मुझे नहीं मिली है। यदि एक साथ ही भेजे हैं, तो एक बार पूछ-ताछ करना। नरसिंहाचार्य नाम का एक युवक हमारे बीच आया हुआ है। पिछले तीन सालों से वह इस शहर में इधर-उधर घूमता रहा। घूमता रहा हो या जो भी हो, वह मुझे अच्छा लगता है। पर यदि तुम उसे जानते हो, तो उसका पूर्व वृत्तान्त विस्तार के साथ लिखो। वह तुमको जानता है। जिस वर्ष पेरिस में प्रदर्शनी हुई थी, उसी वर्ष वह यूरोप आया।...

मुझे अब कुछ भी अभाव नहीं रहा। शहर के कई अच्छे से अच्छे घरों में मेरा प्रवेश हो गया है। मैं सदैव किसी न किसी का अतिथि होकर रहता हूँ। जैसी जिज्ञासा इस देश के लोगों में है, वैसी अन्यत्र नहीं। प्रत्येक वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना इन्हें सदैव अभीष्ट रहता है और इनकी महिलाएँ तो संसार में सबसे अधिक उन्नत हैं। सामान्यतः अमेरिकी पुरुषों की अपेक्षा अमेरिकी महिलाएँ बहुत अधिक सुसंस्कृत हैं। पुरुष तो धन कमाने के लिए आजीवन दासत्व की शृंखला में बँधे रहते हैं, परन्तु नारियाँ अपनी उन्नति के प्रत्येक अवसर से लाभ उठाती हैं। ये लोग बड़े दयालु और स्पष्टवादी हैं। जिस किसी को अपने किसी सनक का प्रचार करना होता है, वह यहाँ चला आता है और मुझे खेद है कि इनमें से बहुतेरे अधकचरे ही निकलते

हैं । अमेरिकनों में दोष भी है और दोष किस जाति में नहीं हैं ? परन्तु मेरा निष्कर्ष यह है--एशिया ने सभ्यता की नींव डाली, यूरोप ने पुरुषों की उन्नति की और अमेरिका महिलाओं और जनसाधारण की उन्नति कर रहा है । यह महिलाओं और श्रमजीवियों का स्वर्ग है । अब अमेरिकी लोकसमाज तथा नारियों की तुलना अपने देश के लोगों से करो--भेद तुरन्त स्पष्ट हो जायगा । अमेरिकी लोग द्रुत गति से उदारमना होते जा रहे हैं । उनकी तुलना उन 'कट्टर' (यह उन्हीं का शब्द है) ईसाई मिशनरियों से न करो, जो तुम्हें भारतवर्ष में दिखायी देते हैं । यहाँ भी वैसे लोग हैं, पर उनकी संख्या दिनों-दिन तेजी से कम होती जा रही है । और यह महान् राष्ट्र शीघ्रता से उस आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता जा रहा है, जिसका हिन्दुओं को गौरवपूर्ण अभिमान है ।

हिन्दुओं को अपना धर्म छोड़ने की आवश्यकता नहीं । किन्तु उन्हें चाहिए कि धर्म को एक उचित मर्यादा के भीतर सीमित रखें और समाज को उन्नतिशील होने के लिए स्वाधीनता दे दें । भारत के सभी समाज-सुधारकों ने पुरोहितों के अत्याचारों और अवनति का उत्तरदायित्व धर्म के मत्थे मढ़ने की एक भयंकर भूल की और एक अभेद्य गढ़ को ढहाने का प्रयत्न किया । नतीजा क्या हुआ ? असफलता ! बुद्धदेव से लेकर राममोहन राय तक सब ने जाति-भेद को धर्म का एक अंग माना और जाति-भेद के साथ ही धर्म पर भी पूरा आघात किया और असफल रहे । पुरोहितगण चाहे कुछ भी बकें, वर्ण-व्यवस्था केवल एक सामाजिक विधान ही है, जिसका काम हो चुका, अब तो वह भारतीय वायुमण्डल में दुर्गन्ध फैलाने के अतिरिक्त

कुछ नहीं करती। यह तभी हटेगी, जब लोगों को उनका खोया हुआ सामाजिक व्यक्तित्व पुनः प्राप्त हो जायगा। इस देश में जन्म लेनेवाला प्रत्येक व्यक्ति अपने को एक 'मनुष्य' समझता है। भारत में जन्म लेनेवाला प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि वह समाज का एक दास है। उन्नति का एकमात्र सहायक स्वाधीनता है। उसके अभाव में अवनति अवश्यम्भावी है। देखो, आधुनिक प्रतिस्पर्धा के युग में जाति-भेद अपने आप कैसे नष्ट होता जा रहा है। उसका नाश करने के लिए किसी धर्म की आवश्यकता नहीं। उत्तर भारत में दूकानदारी, जूतों का धन्धा और शराब बनाने का काम करने वाले ब्राह्मण देखने में आते हैं। इसका कारण ?––प्रतिद्वन्द्विता। वर्तमान राज-शासन में किसी भी मनुष्य पर इच्छानुसार कोई भी व्यवसाय करने की रोक-टोक नहीं। फलतः जबरदस्त प्रतियोगिता उत्पन्न हो गयी है। इस प्रकार हजारों लोग नीचे पड़े रहकर जड़ता प्राप्त होने की जगह उन ऊँचे से ऊँचे पदों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं और प्राप्त भी कर रहे हैं, जिनके लिए उन्होंने जन्म ग्रहण किया है।

कम से कम जाड़े भर मुझे इस देश में रहना ही है। फिर यूरोप जाऊँगा। मेरे लिए प्रभु सब प्रबन्ध कर देंगे। तुम उसकी चिन्ता न करो। तुम्हारे प्रेम के लिए कृतज्ञता प्रकट करना मेरे लिए असम्भव है।

प्रतिदिन मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभु मेरे साथ हैं और मैं उनके आदेशानुसार चल रहा हूँ। उनकी इच्छा पूर्ण हो।... हम लोग संसार के लिए बड़े महत्त्व-पूर्ण कार्य करेंगे और सब निःस्वार्थ भाव से किए जाएंगे, नाम अथवा यश के लिए नहीं।

प्रश्न करने का हमें कोई अधिकार नहीं; हमें तो अपना कार्य करते करते प्राण छोड़ने हैं (Ours not to reason why, ours but to do and die.); साहस रखो और इस बात का विश्वास रखो कि प्रभु ने बड़े-बड़े काय करने क लिए हम लोगों को चुना है और हम उन्हें करके ही रहेंगे। उसके लिए तैयार रहो, अर्थात् पवित्र, विशुद्ध निःस्वार्थ—प्रेमसम्पन्न बनो। दरिद्रों, दुःखियों और दलितों से प्रेम करो, प्रभु तुम्हारा कल्याण करेंगे।

रामनाद के राजा और अन्य बन्धुओं से प्रायः मिलते रहो और उनसे आग्रह करो कि वे भारत के साधारण लोगों के प्रति सहानुभूति रखें। उन्हें बतलाओ कि वे किस प्रकार गरीबों की गर्दनों पर सवार हैं और यह कि यदि वे प्रजा की उन्नति के लिए प्रयत्न न करें, तो वे मनुष्य कहलाने योग्य नहीं। निर्भय हो जाओ। प्रभु तुम्हारे साथ हैं और वे भारत के करोड़ों भूखों और अशि-क्षितों का उद्धार करेंगे। यहाँ का रेलवे का कुली तुम्हारे यहाँ के बहुत से युवकों और राजाओं से अधिक सुशिक्षित हैं। जिस शिक्षा की हिन्दू ललनाएँ कल्पना तक न कर सकती होंगी, उससे कहीं अधिक शिक्षा यहाँ प्रत्येक अमे-रिकी महिला को प्राप्त है। हमें भी वैसी ही शिक्षा क्यों न प्राप्त हो? यह हमें करना ही होगा।

अपने को निर्धन मत समझो। धन बल नहीं; साधुता एवं पवित्रता ही बल है। आओ, देखो, सारे संसार में यह बात कितनी सही उतरती है।

आशीर्वादक,
विवेकानन्द

पुनश्च—तुम्हारे चाचा का लेख मेरे देखने में आनेवाली सब से अद्भुत चीज थी ! वह तो एक व्यापारी के चिट्ठे की भाँति थी और उसे धर्म-महासभा में पढ़े जाने के योग्य नहीं समझा गया। अतएव नरसिंहाचार्य ने उसमें से कुछ उद्धरण एक ओर के एक हाल में पढ़ सुनाये और किसी ने उसके एक शब्द का भी अर्थ न समझा। उनसे यह बात न कहना। बहुत सा विचार थोड़े शब्दों में व्यक्त करना एक महती कला है। यहाँ तक कि मणिलाल द्विवेदी के लेख में भी बहुत काटछाँट करनी पड़ी। एक हज़ार से अधिक निबन्ध पढ़े गये और इस प्रकार के व्यर्थ वाग्जाल सुनने के लिए लोगों के पास समय न था। सब के लिए सामान्यतः जो आधे घण्टे का समय निश्चित था, उससे भी अधिक समय मुझे मिला था, क्योंकि सर्वप्रिय वक्ता आखिर में बोलने के लिए रखे जाते थे, ताकि श्रोतृमण्डली प्रतीक्षा में बैठी रहे। प्रभु उनका कल्याण करें; क्या ग़ज़ब की सहानुभूति और क्या ग़ज़ब का धैर्य है उनमें ! सुबह दस बजे से लेकर वे रात के दस बजे तक बैठे रहते थे। बीच में केवल आधे घण्टे का अवकाश भोजन के लिए मिलता था। एक एक करके सभी प्रबन्ध पढ़े गये। उनमें से अधिकांश बहुत साधारण थे, पर लोग अपने प्रिय वक्ताओं के लिए धैर्यपूर्वक बाट जोहते थे।

लंका के धर्मपाल ऐसे ही प्रिय वक्ताओं में से थे। किन्तु दुर्भाग्य से वे सुवक्ता नहीं थे, श्रोताओं के सम्मुख कहने के लिए उनके पास सिर्फ मैक्स मूलर एवं रिस् डेविड्स की कुछ उक्तियाँ ही थीं। किन्तु वे बहुत ही मधुर स्वभाववाले हैं। महासभा की बैठकों के दिनों में हम दोनों में खूब घनिष्ठता हो गयी।

पूना की एक ईसाई महिला कुमारी सोराबजी और जैन प्रतिनिधि श्री गाँधी इस देश में ठहरकर जगह जगह व्याख्यान देंगे। आशा है, वे सफल होंगे। व्याख्यान देना इस देश में एक बड़ा लाभदायक व्यवसाय है और कभी कभी उससे खूब धन भी प्राप्त होता है। श्री इंगरसोल को प्रति व्याख्यान पाँच सौ से लेकर छः सौ डालर तक मिलते हैं। इस देश में वे बड़े प्रसिद्ध वक्ता हैं। इस पत्र को प्रकाशित मत करना। पढ़ने के बाद इसे (खेतड़ी के) महाराजा के पास भेज देना। मैंने उनके पास अमेरिका में लिया गया अपना एक चित्र भेजा है।

वि.

○

दुःख-शोक

अच्छा फौलाद बनाने के लिए लोहे को बार-बार भट्टी में तपाना पड़ता है और बारम्बार हथौड़े से पीटना पड़ता है। तभी उससे तेज-धारवाली तलवार बन सकती है, जो चाहे जिस ओर झुकायी जा सकती है। इसी प्रकार ईश्वर-दर्शन की योग्यता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को पहले शुद्ध और विनम्र बनकर शोक-ताप में जलना पड़ता, दुख-क्लेश की चोट सहनी पड़ती है।

—श्रीरामकृष्ण

विज्ञान बनाम ईश्वर

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। पाठकों के अनुरोध पर उन्हें 'विवेक ज्योति' में क्रमशः प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत लेख 'आकाशवाणी' रायपुर से साभार गृहीत है। —स.)

आधुनिक युग विज्ञान की तुमुल प्रगति का है। आज मनुष्य विज्ञान के सहारे नयी सृष्टि रच रहा है—वह नये उपग्रह बनाकर अंतरिक्ष में छोड़ रहा है। कृत्रिम गर्भाधान तथा परखनली-संतान के प्रयोग भी सफल हो चुके हैं। ऐसे प्रयोग भी हो रहे हैं जिनसे माता के गर्भ का सहारा न लेते हुए शिशु का जन्म प्रयोगशाला में हो जाय। ऐसी स्थिति में बौद्धिक वर्ग ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में अत्यन्त शंकालु हो गया है। वह समझता है कि विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों ने ईश्वर के मिथ्यात्व को सिद्ध कर दिया है तथा आज के विश्व में ईश्वर का कोई स्थान नहीं रह गया है। पर यदि हम ध्यानपूर्वक अपने युग की प्रगति का निरीक्षण करें तो हमें प्रतीत होगा कि नव्यतम वैज्ञानिक अन्वेषण ईश्वर और तत्त्वज्ञान के मिथ्यात्व का बोध नहीं कराते अपितु उसके अस्तित्व और उसकी महत्ता को ही पुष्ट करते हैं। तात्त्विक ज्ञान की दृष्टि से वेदान्त की ज्ञानप्रणाली सर्वोत्कृष्ट है। वेदान्त की दृष्टि से प्रत्येक जीव ही शिव है, हर आत्मा ही परमात्मा है। अज्ञान के कारण जीव अपने ईश्वरत्व का बोध नहीं कर पाता। इसका मतलब यह हुआ कि मनुष्य ईश्वर के ही

समान सब कुछ करने में समर्थ हैं, उसमें अनन्त शक्ति है। हाँ, उसे इस शक्ति के प्रकटन का उपाय जानना चाहिए।

मनुष्य दो स्तरों पर कार्य करता है--शरीर के स्तर पर और मन के स्तर पर। यदि वह अज्ञान को काट सके तो वह दोनों धरातलों पर असीम शक्ति सम्पन्न हो जाएगा। शरीर भौतिक धरातल है और इसी पर विज्ञान की अलौकिक शक्तियाँ प्रकट हुई हैं। यह जो मनुष्य नई सृष्टि रच रहा है, उपग्रह बना रहा है, यह इसी सत्य की पुष्टि करता है कि मनुष्य में अनन्त शक्ति है--जैसे बाहरी जगत के सन्दर्भ में, वैसे ही भीतरी या अध्यात्म जगत के सम्बन्ध में भी। यदि किसी दिन गर्भ के बाहर प्रयोगशाला में शिशु का जन्म हो गया तो उससे ईश्वर को कोई आँच नहीं आती, बल्कि उससे मनुष्य का ईश्वरत्व ही सिद्ध होता है।

गड़बड़ी इसलिए उत्पन्न होती है कि हम ईश्वर को व्यक्ति विशेष समझते हैं। और उसके सम्बन्ध में कल्पना करते हैं कि वह कहीं विराजित होगा और वहीं से विश्व का काम-काज चला रहा होगा। ईश्वर वास्तव में ऐसा नहीं है। वह तो विश्व में सर्वत्र व्याप्त नियम है, अथवा आइंस्टीन की भाषा में कहें तो महत् बुद्धि है। जैसे धर्म इस 'महत् बुद्धि' अथवा 'सर्वव्यापी नियम' की खोज है, उसी प्रकार विज्ञान भी इसी की खोज है। नयी सृष्टि बनाने अथवा उपग्रह रचने अथवा प्रयोगशाला में शिशु उत्पन्न करने के मिस से वास्तव में विज्ञान उस अनुस्यूत नियम या 'महत् बुद्धि' को ही पकड़ना चाहता है। जिस दिन वैज्ञानिक उस सर्वानुस्यूत् नियम को पकड़ लेगा, उस दिन वह ईश्वर ही हो जाएगा। धर्म भी ठीक यही बात करता है। यहाँ धर्म का तात्पर्य वेदान्त से है।

इस दृष्टिकोण से विचार करने पर पता चलता है कि विज्ञान और ईश्वर में कोई विरोध नहीं है। विज्ञान का अर्थ उसके आविष्कारों से नहीं लगाना चाहिए। उप-ग्रह, कृत्रिम गर्भाधान अथवा गर्भ के बिना उत्पन्न शिशु —यह सब विज्ञान नहीं है, वह विज्ञान का चमत्कार है। विज्ञान कहते हैं ज्ञान की अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति को। जब हम इन्द्रियग्राह्य जगत को छानबीन का विषय बनाकर उस सर्वानुस्यूत नियम को पकड़ने जाते हैं तो वह 'विज्ञान की प्रणाली' कहलाता है। और जब मन को खोज का विषय बनाकर उस ओर बढ़ते हैं तो वह 'धर्म की प्रणाली' के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्य का ईश्वरत्व अकाट्य है। इसी अर्थ में वेदान्त कहता है कि मनुष्य ही ईश्वर है। केवल अज्ञान की परतें भर खुलती हैं कि वह छिपा हुआ ईश्वरत्व प्रकट हो जाता है। विज्ञान उत्तरोत्तर मनुष्य के इसी ईश्वरत्व को उद्घाटित कर रहा है।

○

रस के बस में चार रात

फणीश्वरनाथ रेणु

(हिन्दी के सुविख्यात् कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित होने के पूर्व 'रेणु' के जीवन में एक रात एक बड़ी ही महत्वपूर्ण घटना घटित हुई थी, जिसने उनके जीवन का रूपान्तरण कर दिया, नास्तिक से आस्तिक बना दिया। उस रात जब वे क्षय रोग की चरम अवस्था में अस्पताल की शय्या पर पड़े अपने जीवन की अन्तिम घड़ी की प्रतीक्षा कर रहे थे, उन्हें युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण का दर्शन मिला, बातचीत भी हुई। इसके बाद से वे धीरे-धीरे अध्यात्म के पथ पर खिचते गये और अन्ततः रामकृष्णमय हो उठे थे। प्रस्तुत लेख में उक्त घटना का विवरण आया है। रेणुजी की यह संस्मरणात्मक रचना 'अणिमा' पत्रिका के प्रवेशांक (जनवरी १९६५ ई.) में प्रकाशित होकर तत्पश्चात् श्री भारत यायावर द्वारा 'श्रुत अश्रुत पूर्व' नामक पुस्तक में संकलित हुई है। —स.)

२४ दिसम्बर '६४ -- रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना में आयोजित 'क्रिसमस इव' से लौट रहा हूँ। मन-प्राण स्वर्गीय सुगन्ध में डूबा हुआ है। जीभ पर प्रसाद (केक) की गुलाबी-मिठास ! किन्तु, ओवरकोट इतना भारी है कि लगता है कन्धे पर सलीब ढो रहा हूँ। एक कुहरा-भरी साँझ में अभी जो कुछ देखता हूँ, उस पर एक 'क्रास' की छाया उभर आती है : सड़क, रोशनी, रिक्शा, आदमी, क्रास + क्रास + क्रास + + आश्रम से निकलकर दाहिनी ओर मुड़ रहे थे पैर --- जिधर जाते-जाते गाँधी-मैदान के पास जाकर मैं एक 'जहन्नुम' में चला जाता। मन मना कर रहा था, मगर पैर मुड़ रहे थे। हठात्, कर्कश हार्न सुनकर वाम दिशा के फुटपाथ पर चढ़ गया। देखा, एम्बुलेन्स बाय-पास होकर छुतहा अस्पताल जा रहा है। कुहरे में भी, दूर तक , सुफ़ेद मोटर-

वान पर अंकित रेड-क्रास दिखलायी पड़ता है। फिर कुहासे के झीने पर्दे पर—कम्पलिमेण्टरी-कलर में क्रास+क्रास+क्रास! बायीं ओर चलता हुआ घर आया।

मेरी सूरत देखकर ही घर के लोग समझ जाते हैं, मैं आज जहन्नुम से नहीं, जन्नत से आ रहा हूँ।

संयोग की बात बिजली चली गयी! हमने आध-दर्जन मोमबत्तियों को जलाकर उजाला किया। घर का हर प्राणी, नौमी—सुनहरी, झबरी हमारी नौमी!—और तोतू (हरबोला पंछी!) भी, अचानक ईश्वरोन्मुख हो गया। सभी के चेहरों पर एक दिव्यभाव! काँपती हुई रोशनी में काँपते हुए हम भोजन करने बैठे। लगता है, कहीं पास ही कोई मद्धिम आवाज में गद्गद कण्ठ से पढ़ रहा है—'भोजन करते समय येसु ने रोटी ली और उसे आशीष देकर तोड़ा और अपने शिष्यों को देते हुए कहा—लो और खाओ, यह मेरा शरीर है।... तब कटोरा लेकर धन्यवाद दिया और यह कहते हुए उन्हें दिया—इसमें से सब-के-सब पी लो, क्योंकि यह मेरा लहू है, व्यवस्थान का लहू जो बहुतों के लिए बहाया जा रहा है, कि उन्हें पापों की क्षमा मिले।... मैं ही रोटी हूँ, जीवित रोटी, जो स्वर्ग से उतरी है... जो संसार के जीवन के लिए समर्पित है।...'

यदि उस समय एम्बुलेन्स का हॉर्न मुझे बायें फुट-पाथ पर नहीं कर देता, बहुत दूर तक रेडक्रास नहीं जगमगाता रहता, तो मैं दाहिनी ओर मुड़ रहा था।

जन्नत से लौटकर जिस साँझ आता हूँ—उस रात को नींद नहीं आती है। इसी के डर से मैं वहाँ हर साँझ

नहीं जाता। महीनों नहीं जाता। हर साँझ को मौत खरीदने निकल जाता हूँ—जहन्नुम की ओर !

कल, २५ दिसम्बर को बड़ा दिन है, 'श्री श्री माँ' परमा प्रकृति सारदामणि का दिन है। सुबह साढ़े आठ बजे से विशेष-पूजा और हवन—रात में 'श्री श्री माँ फ़िल्म-शो'— सूचना देने के लहजे में, मैं बोला—कल, 'श्री श्री माँ।' परसों—'वीरेश्वर विवेकानन्द' और 'मीराबाई।' २७ दिसम्बर को 'परमहंस' रामकृष्ण'—

हमारे सोने के कमरे का एक कोना—'मिनिएचर मन्दिर' है। एक छोटी-सी चौकी पर रंगीन चदरी बिछी हुई है। उस पर गणेश, शिव, बुद्ध, सरस्वती, ईसा और रामकृष्ण की छोटी-छोटी मूर्तियाँ हैं—दीवार के सहारे दशभुजा-दुर्गा की रंगीन तस्वीर (पट !) टिकी हुई है और रामकृष्ण-सहमहाकाली की छवि ! मेरे गुरु स्वामी माधवानन्द का फोटोग्राफ़। दाहिनी दीवार पर ध्यानरत विवेकानन्द। और इन सभी के ऊपर हैं—श्री श्री माँ !

चौकी के पास फ़र्श पर धूपदानी है और. . .और सोलन की बोतल में गंगाजल. . .। बोतल का लेबल ज्यों-का-त्यों चिपका हुआ है।

बस एक बार, बंग देश की एक इण्टेलेक्चुअल महिला ने पूछा था—'सबसे ऊपर श्री माँ को रखने का कोई खास मतलब है क्या ?'

जो सही बात थी निवेदन किया—मूर्तियों और तस्वीरों को सजाने-बैठाने-लटकाने के समय कोई खास मतलब नहीं था। जगह, आकार और आयतन के हिसाब से, सहूलियत जैसा हुआ. . . मगर, अब एक मतलब निकाल लिया है। विवेकानन्द अमेरिका से

अपने गुरुभाई शिवानन्द को लिखते हैं, 'जीती-जागती दुर्गा की पूजा दिखलाऊँगा। भाई, माँ की याद आते ही कभी-कभी कहता हूँ—को रामः ? (अशोकवाटिका में सीता को देखकर, हनुमान भूल गये थे राम को—को रामः ?) रामकृष्ण परमहंस ईश्वर थे या आदमी—जो भी कहो—किन्तु, जिसकी माँ पर भक्ति नहीं—उसको धिक्कार।'

फिर रामकृष्ण-सारदा कथोपकथन का एक टुकड़ा।

रामकृष्ण की पदसेवा करती हुई सारदा एक दिन हठात् पूछ बैठती है, "मैं तुम्हारी कौन लगती हूँ ?"

"तुम ? मेरी आनन्दमयी हो ! . . .जो माँ मन्दिर में हैं (अर्थात्—भवतारिणी काली) वही नहवत-घर में (रामकृष्ण की माँ चन्द्रमणि) हैं और वही यहाँ अभी मेरा पैर टीप रही हैं।"

भद्र महिला को स्मरण दिलाया था—'और, स्वयं रामकृष्ण ने जिनकी पूजा की थी। षोड़सी-पूजा ! चरणों पर भक्ति-श्रद्धापूर्ण प्रणाम निवेदन किया था . .।'

तब, उन्होंने मुस्कराकर पूछा था, "और, इस बोतल में क्या है ?"

मैंने तनिक हकलाकर कहा था, "वह मैं हूँ।" . . . अर्थात्, वह मेरा प्रतीक है। . . .यानी, सोलन की बोतल में गंगाजल।

बोली, "आपके अहंकार की तारीफ . . .।"

मैं बोला, "दासोऽहं। सोऽहं नहीं। रामकृष्ण की सीख !". वह झुँझलाकर हँसी थी। मन-ही-मन बोली थी— 'भण्ड !'

सचमुच, मैं 'भण्ड' ही हूँ क्या ? बगुला-भगत ? सम्भव है, होऊँ। मगर, अभी इस समय आधी रात को—जब गाँधी-मैदान के पासवाले गिर्जाघर में घड़ीघण्ट घन-घना उठा है—मैं भण्ड नहीं। मैं हड़बड़ाकर, कुर्सी छोड़-कर उठता हूँ। और दीवार के सहारे खड़ा होकर दोनों हाथों को दोनों ओर फैला देता हूँ ! और, तब देवदूत कहता है—'डरो नहीं—सुनो, मैं तुम लोगों के लिए बड़ी खुशखबरी ले आया हूँ, जिससे सारी जनता को आनन्द होगा। आज दाऊद की इसी नगरी में तुम्हारे लिए मुक्तिदाता जन्मे हैं...।"

मैं हूँ सत्य, मैं हूँ मार्ग, मैं हूँ जीवन !—प्रभु ईसा कहते हैं।

पूजा और हवन में, समय पर नहीं पहुँच पाने के कारण, नहीं सम्मिलित हो सका। किन्तु, प्रसाद-वितरण के बहुत पहले ही आश्रम पहुँच गया था। भंगी-टोली के सैकड़ों प्रसादार्थियों की भीड़ में खड़ा होकर इस बार माँ का प्रसाद लूँगा। खिचड़ी-प्रसाद। खेचरान्न ! रामकृष्ण तथा माँ को खिचड़ी बहुत प्रिय थी। इसलिए, इनकी पूजा में, भोग खिचड़ी का ही निवेदित होता है।

मैंने, पिछले कई वर्षों में एक बात की परीक्षा ले ली है। कई अभक्त (अर्थात् जो रामकृष्ण के भक्त नहीं, नास्तिक हैं, द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी हैं !) जनों को यह प्रसाद खिलाकर पूछा है—ऐसी खिचड़ी पहले भी आपने कभी खाई थी ?' और, भोजन-रसिक मेरे मित्रों ने

निस्संकोच जवाब दिया है—'कभी नहीं। इतनी सुस्वाद खिचड़ी ?'

अथच, मूंग की दाल और चावल, आलू के अलावा इसमें न घी होता है और न कोई सुगन्धित मसाला !

खिचड़ी खाकर अघाये हुए नंग-धड़ंग बच्चों में एक अजीब उत्साह है। रात में सिनेमा होगा। एक रात ही नहीं। तीन-तीन रात !

बन्द, अँधेरे हाल में बैठकर आनन्द लूटने को, कोई आत्म-रति कहे तो, उसे मैं पागल नहीं कहूँगा। रामलीला, रासलीला, नौटंकी, जात्रा देखनेवाली जनता को भी देखा है और अन्ध-बन्द-हाल के दर्शकों की सिलहुट छवि भी। लालटेन, गैसबत्ती, पंचलाइट, डे-लाइट, किरोसिन-लाइट, पैट्रोमेक्स की रोशनियों में हर मुखड़े पर अंकित, हँसी-रुदन, आनन्द-अवसाद की रेखाएँ, स्पष्ट हो जाती हैं। किन्तु, फिल्मयुग में अब नाटक भी अँधेरे में होता है।... अन्धकार में टटोलती हुई हँसी,...लड़खड़ाती हुई मुस्कुराहट, गुपचुप, फिसफिस...!

लेकिन, खुले मैदान में जब-जब फिल्म देखी है, एक अद्भुत आनन्द मिला है ! पर्दे पर तस्वीरें अस्पष्ट उतरती हैं, आवाज झनझनायी हुई निकलती है, फीता बार-बार कट जाता है, इसके बावजूद—सुख मिलता है।

एक हजार दर्शकों में से सात सौ को छाँट देता हूँ—वे सिर्फ बायस्कोप देखने आये हैं। तीन सौ में, दो सौ को अभक्त की श्रेणी में डालकर—एक सौ दर्शकों को मैं रामकृष्ण का भक्त मान लेता हूँ।

रामकृष्ण मिशन के इस मैदान में, साल-भर में कई बार भारी भीड़ होती है। उस समय, आश्रम के विद्यार्थी

जूतों की रखवाली से लेकर ट्राफिक कण्ट्रोल तक करते हैं। आश्रम के बड़े महाराज, समय-समय पर, शोर-गुल करनेवालों को शान्त करते हैं। किन्तु, आज की भीड़ को कोई नहीं सँभाल रहा। लोग, जूते पहनकर ठाकुर-मण्डप में खड़े हैं। उन्हें कोई कुछ नहीं कहता! कुछ कहना बेकार है।...कोलाहल...कलरव...आनन्दोल्लास!

आज की रात—'श्री श्री माँ' में रामकृष्ण की भूमिका में श्री गुरुदास बन्दोपाध्याय हैं। सुना है रामकृष्ण की भूमिका करते समय—शूटिंग के दिनों—आप रामकृष्ण रस में विभोर रहते हैं। सबकुछ 'ऐबनारमल' हो जाता है! पर्दे पर रोशनी उतरी और भीड़ धीरे-धीरे संयत हो रही है। स्वयं चारों ओर खामोशी छाती गयी। खेल शुरू होने के पहले...ट्रेलर, डाक्यूमेण्टरी दिखायी जा रही है—सिक्कि सेन्स...एक व्यक्ति है जो सार्वजनिक-स्थलों पर, बसों में, ट्रेन में, ट्राम में, पब्लिक टेलिफोन पर, लिफ्ट पर, मुहल्ले के नल पर, घर में—हर जगह अपनी हरकतों से अनेकानेक हास्यास्पद-स्थितियाँ पैदा कर जाता है...हहहह! हहहह!

नहीं, भीड़ ने मूल बात को ग्रहण कर लिया है। एक तेरह साल का स्कूलिया-लड़का अपने साथी से कह रहा है—'अभिये न देखले लकऊ पर्दा पर!'

...श्री श्री माँ! इसके अलावा मैं कुछ भी नहीं पढ़ सका। शायद, पढ़ना ही नहीं चाहता था—क्योंकि मैंने चेष्टा नहीं की। सिनेमा-हाल में भी यही करता। एक अन्धभक्त की दृष्टि से मैं यह 'लीला' देखने आया

हूँ।...मैं पटलदास हूँ ! मैं माँ सारदामणि को सीता कहता हूँ, मानता हूँ।

...अद्‌भुत-भाव-विभोर होकर सभी ने काम किया है। एक रील समाप्त होने के बाद विराम के क्षण में मुझे लगा मैं उन्नीसवीं शताब्दी में पहुँच गया हूँ। मैं इस युग का आदमी नहीं...मैं लाटू महाराज हूँ, जो परम-आह्लाद से माँ की रोटी बेलने को ही असल पूजा मानता है !

...रामकृष्ण की आँखों को, विभिन्न अवस्था और 'भाव' के क्षणों में देखकर—देखते-देखते मैं चंचल हो उठा। लगा, ओवरकोट के नीचे—स्वेटर के नीचे कोई पतंगा घुस गया है। नहीं, मैं डर गया हूँ असल में।

मुझे बार-बार ऐसा लगता है कि मैं ज़ोर-ज़ोर स रोने लगूँगा—चिल्लाने लगूँगा—हँसूँगा। हालाँकि, मैंने आज किसी किस्म का नशा नहीं सेवन किया है, मगर लोग कहेंगे—'साला ! यहाँ भी आया है पी के।'... अथवा कहेंगे—'साला, गिरीश घोष की नक़ल कर रहा है !'

जब माँ सारदामणि, पगली वैष्णवी को प्यार से पुचकार शान्त करने लगी—मैं डगमगाता हुआ उठ खड़ा हुआ। फिर, उस भीड़ से कैसे बाहर निकला—स्मरण नहीं। बड़े महाराज ने पूछा—'क्यों ? चले ?' जवाब दिया—'नहीं। ज़रा खड़ा होकर, इस पेड़ के नीचे से देखूँगा।...लेकिन पाँच मिनट के बाद मैंने भागकर घर जाने में ही कुशल माना।

घर आकर लगा, इस भारी ओवरकोट के कारण ही मेरी वैसी अवस्था हो गयी थी, शायद। बोझ और गर्मी के

मारे 'ब्लड प्रेसर' पर असर...नहीं, मुझे ब्लड प्रेसर की शिकायत नहीं। फिर भी, एक बार जंचवा लेने में क्या है?...ब्लड प्रेसर आपरेटस...डाक्टर...अस्पताल ...मेरे कमरे के मन्दिर में कोई बोला—'अरे दुर साला! निजे के रोगी-रोगी भावले सत्ति-सत्ति रोगी हये जाबे! किछु नेई...!!' ओवरकोट क कारण नहीं—असल में रामकृष्ण के कारण ही मैं, 'लीला' से भाग आया।

मुझे बार-बार अस्पताल के उस महान् दिन की याद आती है; उन क्षणों की याद आती है, जब मैंने ठीक इसी तरह इस 'मूरत' को भाव-विह्वल होकर बोलते देखा था। उन क्षणों—उस दिन—के पहले तक रामकृष्ण की तस्वीर को देखकर—मेरे मन में कभी भक्ति नहीं उमड़ी। बल्कि, अश्रद्धा ही अधिक होती थी। और, मैं उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता था। न कभी जानने की उत्सुकता हुई। यहाँ तक कि विवेकानन्द उन्हीं के शिष्य हैं और विवेकानन्द ने क्या-क्या कहा, क्या-क्या किया—यह सब जाने बगैर मन में विवेकानन्द से बैर ठाने हुए था। मार्क्सवादी की हैसियत से हर मजहबी-आदमी को अफ़ीमखोर या गँजेड़ी आदमी मानता था!

१९५१–५२...

...दो-दो बाल्टी रक्त उगलकर मैं ठण्डा होता जा रहा था। उस दिन हमारे वार्ड में आध दर्जन से अधिक व्यक्ति मर चुके थे। पंखा बन्द था, नल में पानी नहीं। मेरी जीभ पर...गोंद...मेरी साँसों को कोई गोंद से

चिपकाकर. . .फेफड़े का रोगी, अन्तिम क्षणों तक होश में रहता है. . .त्राहि-त्राहि मची हुई वार्ड में. . .मुझे रह-रहकर नींद आती है. .गन्ध दुर्गन्ध, भीषण नरक—— आँखें खुलते ही एक छाया चेहरे पर झुकी हुई——हट गयी छाया! समझ गया——यह उच्चका मेहतर हर वार्ड में मरनासन्न लावारिस 'रोगियों' के इर्द-गिर्द मँडराता है। मरा कि टूटा!! वह झुककर परीक्षा कर रहा था——साँस चल रही है या नहीं। मुझे जिन्दा देखकर छिटककर अलग जा खड़ा हुआ। मैंने तकिये के नीचे रखी हुई घड़ी-कलम को टटोलकर देखा। हाथ, शायद तकिये के नीचे ही रहा और मैं फिर सो गया। हालाँकि, जगे रहने की अन्तिम दम तक मैंने चेष्टा की।. . .एक पागल या नशाबाज-दाढ़ीवाला हाथ में गाँजे का चिलम लेकर धुआँ उड़ाता हुआ मेरे पास आता है। जोर से धुआँ मेरी ओर फेंककर हँसता है—— ठठाकर! . . .वह मुझसे पूछता है कि तुम रो क्यों रहे हो? और, आश्चर्य——बँगला में ही पूछता है——फिर हँसकर कहता है——'दुर साला! काँदछिस केन?'——मैं कहता हूँ——'मुझे बहुत काम करना था, लेकिन यह नींद।. . .मैं सोना नहीं चाहता. . .' दाढ़ी-वाला गम्भीर होकर, व्यंग्य भरी मुद्रा में कहता है–'देश का उद्धार तो कर दिया, अब क्या? . . .साला देशेर सेबक. . . सेबकेर जालाय लोके बाय-बाय कोर्बे. तोमार तो कलम सोनार'. . .'हाँ, पार्कर फिफ्टी-वन है न!'–मैं लजाकर कहता हूँ। दाढ़ीवाला बोला–'इस सोने की कलम से क्या-क्या लिखा? कभी मेरा नाम लिखा? दुर साला–किच्छुइ जाने ना–हो-हो-हो–दुर साला–तोर किच्छुई नेई–तुमी भालो–तुमी रोगी नओ–तुमी सुस्थ–तुमी सुस्थ–उटो।. .'

आँख खोलकर देखा—वार्ड के बरामदे पर धूप है ! लगा, मैं स्वस्थ हो गया। डढ़ साल से चढ़ा हुआ बुखार आज आधा डिग्री उतरा—पहली बार !

डाक्टर हर्ड साहब आये—'क्राइसिस की रात कट गयी !'

...और उसी दिन से मेरा बुखार घटता गया, (कुल ९० पाउण्ड) वजन बढ़ता गया—क्रमशः। पाँच-छै महीने के बाद डाक्टरों ने वजन घटाने की सलाह दी। अस्पताल से 'डिस्चार्ज' होने के दिन डाक्टर साहब कह रहे थे—अपने विद्यार्थियों से—'कुछ अद्भुत ढंग से यह आराम हुआ—है न ?'

अस्पताल से निकलकर, दूसरे दिन एक किताब की दुकान पर गया। बंगला पुस्तकों में एक 'गेटअप' ने आकर्षित किया। परमपुरुष रामकृष्ण परमहंस। लेखक—अचिंत्य कुमार सेनगुप्त।...प्रच्छपट परिकल्पना—सत्यजीत राय (उस समय तक फिल्म-डायरेक्टर नहीं हुए थे)—और-और—अन्दर फोटोग्राफ देखकर—मैं घबरा गया था। यह तो-तो-तो-तो उस दिन—छै-सात महीने पहिले अस्पताल मे उस महान-दिन को—उस रात को—यही मूरत ??

'रामकृष्ण विवेकानन्द साहित्य' पढ़ना शुरू किया। ...वर्षों के भूखे-प्यासे आदमी को भोजन मिला हो, मानो बार-बार पढ़कर भी तृप्ति नहीं होती। अन्त में, इन ग्रन्थों का 'पाठ' शुरू किया।

रामकृष्ण की छवि के सामने, विधिपूर्वक ! ...अपना पहला उपन्यास लिखना शुरू किया। पाण्डुलिपि पर सबसे

पहले 'ॐ भगवते श्री रामकृष्णाय नमः' लिखना चाहता था।...से कि रे! सोनार कलम दिये बई लिखबे? आमार नाम लिखबे? प्रथमे गणेशेर नाम लिखते हय रे बोका...साला! आमार की सूँड आछे जे आमि गणेश होबो? जा स्साला, तोर जा मने इच्छे-ताइ लिख...! तब, मैंने 'श्री गणेश' नहीं लिखकर लिखा—सिर गणेश। और तब उपन्यास का सिरगनेश (बिसमिल्लाह!) किया।

आश्रम में 'श्री श्री माँ' देखते वक्त मुझे वह अद्भुत हँसी सुनायी पड़ती थी। लगता था, बस अब मुझसे सवाल करेंगे—'की रे साला! सोनार कलम दिये की लिखली?' ...जो माटी वही सोना, जो सोना वही माटी! फोरटीन कैरेट सोना—फोरटीन कैरेट माटी!

रामकृष्ण ने कहा था—'माँ, मुझे सूखा-संन्यासी मत बनाना।—मुझे रस के बस में रखना।'

यदि, रामकृष्ण रस के बस में नहीं रहते, सूखा संन्यासी हो जाते तो-तो—मैं समझता हूँ—आज बंगाल में न कोई गीत गाता, न नाटक खेलता, न फिल्म बनाता, न चित्र आँकता, न साहित्य सृष्टि करता।...मात्र, बारूद का गोदाम!! कल, 'विवेकानन्द' और 'मीरा' की लीला देख सकूँगा या नहीं—राम जाने।...लेकिन आज की रात भी नींद नहीं आयेगी—यह मैं जानता हूँ।

नहीं, आज भी नहीं देख सका पूरा खेल। शिकागो-भाषण स्वामीजी ने शुरू किया और मेरी देह काँपने लगी!

घर लौटकर सिस्टर निवेदिता लिखित किताब The Master as I saw him पढ़ता रहा। बीच-बीच में मन में एक सवाल उठता—'सिस्टर निवेदिता भी अन्धभक्त थीं क्या ?'

हाँ, निवेदिता ने भी अपने गुरु की तरह, अपने गुरु को 'ठोक-बजा' कर देख लिया था और फिर 'अन्ध' हो गयी थीं।—रामकृष्ण ने कहा था, नरेन (विवेकानन्द) से—'हाँ, ठोक-बजाकर देख लो। तुम दूसरों की कही-सुनी बातों को, अन्धों की तरह क्यों ग्रहण करोगे ? . . .'

'मन चलो निज निकेतने'—पहली मुलाकात के दिन, रामकृष्ण को भजन सुना रहा है—नरेन। रामकृष्ण ने भाव-समाधि ली। देखा, यह तो वही है—मेरा गुरु—वह प्रकाशपुंज—जिसने मुझे यहाँ भेजा—तुम चलो, मैं आ रहा हूँ।. . .गीत समाप्त हुआ। रामकृष्ण की विह्वल-गद्गद वाणी . . .फिर आना। बार-बार आना। . . .ओ आमार गुरु—ओ नारायण—ओ शिव—ओ अग्नि—नरेन आमार खापखोला (म्यान से निकली) तरवार !

विवेकानन्द, अपने पश्चिमी भक्त-पाठकों को अपने गुरु (मदीय आचार्य देव !) के सम्बन्ध में सुनाते हुए—लिखते हैं—" . . .इस तरह, मैं क्रमशः नास्तिक होता जा रहा था। ऐसे समय में ही—यह आध्यात्मिक-ज्योतिष्क मेरे भाग्य-गगन में उदित हुआ। उसने मुझे बुलाया—उपदेश सुनने गया। लेकिन, मैंने देखा—यह तो साधारण आदमी की तरह ही है। कोई असाधारणत्व नहीं देखा। वह अति सरल भाषा में बातें करता था—मैंने सोचा, यह आदमी एक बड़ा धर्माचार्य कैसे हो सकता है ? . . .मैं जो

कुछ कह रहा हूँ—वह कोई मनगढ़न्त या कल्पित-कथा नहीं—यह वास्तविक सत्य है। मैं दिन-प्रतिदिन इस व्यक्ति के निकट आने लगा। सारी बातें तो मैं अभी नहीं बताऊँगा, तब, इतना कह सकता हूँ कि—धर्म भी दिया जा सकता है—यह मैंने वास्तविक रूप से प्रत्यक्ष किया। मैंने ऐसा बार-बार होते देखा है—एक 'स्पर्श'—अथवा एक 'दृष्टि' से ही, समग्र जीवन-परिवर्तित! . . .मैंने बुद्ध, ईसा, मुहम्मद और प्राचीन काल के विभिन्न महापुरुषों के बारे में पढ़ा था—उन्होंने उठकर कहा, 'स्वस्थ होओ।' और वह व्यक्ति स्वस्थ हो गया। मैंने अब जाना, यह सत्य है! मैंने जब इस 'पुरुष' को देखा—मेरा सारा सन्देह बह गया। धर्मदान सम्भव है। मेरे गुरुदेव कहते—'दुनिया की और चीजें जैसे ली-दी जाती हैं—धर्म तदपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष रूप से दिया-लिया जा सकता है. . .।"

नरेन—एक तूफान! केशवचन्द्र, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, गिरीश घोष, बंकिमचन्द्र—सभी की आँखें इस तूफान पर थीं। आश्चर्य! उस पागल ने, दक्षिणेश्वर के अपढ़ व्यक्ति ने इस आँधी को मुट्ठी में कैद कर लिया!

—'यह आपने क्या किया? मुझ-पर कौन-सा जादू डाल दिया? नहीं-नहीं। ऐसा मत कीजिये। मेरी माँ है, भाई है—परिवार है। मेरा सबकुछ क्यों छीन लिया आपने? मुझे छोड़ दीजिये—दुहाई. . .।'—आर्तनाद कर उठा नरेन। रामकृष्ण 'जै माँ, जै माँ' कहते—हाथों से तालियाँ बजाते हुए कहते हैं—'जा! जा ना! कहाँ जायेगा?' हो-हो-हो-हो! . . .विचित्र हँसी!!

. . .चारों ओर लहराता समुद्र! कन्याकुमारी की चट्टान पर खड़ी गैरिक-काया—दूर देख रही है। या सूरज

को उगा रही है——मन्त्र पढ़कर ? . . .उठो ! जागो ! ! प्राप्त करो या . . . ।

रोमां रोलां परिचय देते हैं——'उनके शब्द महान संगीत हैं, बीथो-वन-शैली के टुकड़े हैं, हैंडेल के समवेत-गान के छन्द प्रवाह की भाँति उद्दीपक लय है । शरीर में विद्युत स्पर्श के-से आघात की सिहरण का अनुभव किये बिना मैं उनके इन वचनों का स्पर्श नहीं कर सकता, जो तीस वर्ष की दूरी पर पुस्तकों के पृष्ठों में बिखरे पड़े हैं । और, जब वे नायक के मुख से ज्वलन्त शब्दों में निकले होंगे तब तो न जाने कैसे आघात एवं आवेग पैदा हुए होंगे !'

पिछले साल की बात याद आती है । एक 'भौतिक-वादी'——(भारतीय !) प्रकाशक मुझे देखकर ही, मन का क्षोभ उतारने लगे——'साहब हद है ! इस अंतरिक्ष-यात्रा के युग में——विज्ञान, टेक्नोलाजी वगैरह की किताबें नहीं खरीदकर——सरकार ने इस बार सारी खरीदारी——सब पैसे——'विवेकानन्द ग्रन्थावली' के लिए लगा दिये हैं । हद है ! अजब देश है यह !'

मैंने कोई जवाब देना उचित नहीं समझा । क्योंकि, एक समय था, जब मैं भी इसी तरह आग-पेशाब करता फिरता था । जिस दिन मेरा अभिमान चूर्ण हुआ था—देखा, मैंने अनेकानेक 'शिव' को अपवित्र कर दिया है । तब ज़ोर-ज़ोर से रोया था । . . .आँसुओं में नहाकर पापमुक्त हुआ हूँ । अब राह चलते वक्त, हर मील के पत्थर (माइल स्टोन !) के सामने श्रद्धावनत् होकर माथा टेकता हूँ ! किन्तु, पिछले साल से अब तक बच्चों के लिए प्रकाशित-जीवनी-पुस्तिकाओं में सबसे अधिक प्रिय-पुस्तिका प्रमाणित हुई——रामकृष्ण-मिशन प्रकाशन द्वारा प्रका-

शित—'बच्चों के विवेकानन्द !' उस तेज प्रकाशक से यह बात छिपी नहीं होगी।...विवेकानन्द-जन्मशती के अवसर पर घटी हुई दूसरी घटना ! आश्रम (पटना) में आयोजित एक सार्वजनिक सभा में उस दिन 'दिनकर' जी बोलनेवाले थे। पटना के प्रायः हर वर्ग के श्रोता उपस्थित थे। संख्या अधिक थी बुद्धिजीवियों की ही। दिनकरजी ने उठकर रामकृष्ण की मूर्ति को नमस्कार किया—विवेकानन्द के तैलचित्र की ओर देखा, फिर बोलने लगे। और, जब बोलने लगे तो बोलते-बोलते एक बार रवीन्द्र, गाँधी को विवेकानन्द के सामने 'कुछ नहीं' कह दिया।...मैंने आज तक उनके मुँह से वैसा भाषण कभी नहीं सुना। डा. प्रसाद बोले—मैंने भी नहीं।...किन्तु सभा में क्षोभ की लहर भी आयी। कई रवीन्द्र-भक्तों ने, सभा के बाद उनसे पूछा—'यह आपने क्या कह दिया ? दिनकरजी बोले, 'मुझे याद नहीं कि मैंने क्या कहा ? लेकिन, जो कुछ भी कहा—उसकी सफाई मैं नहीं दूँगा। ...एक गाँधी-भक्त ने पूछा—'दिनकरजी, आपने समयोपयोगी भाषण देने के लिए वैसा कहा या आप...।

'जी नहीं, मैं अपनी बात पर अटल हूँ।'—शायद दिनकरजी ने इन्हीं शब्दों में उत्तर दिया था।

...किन्तु सुबह अखबार पढ़कर काँप गया ! रामकृष्ण की ओर मुँह करके पूछा "रामेश्वरम् और धनुषकोटि में यह क्या कर दिया आपने ठाकुर ?"—"दुरसाला ! आमार खुशी। तुमी जवाबदीही कोरनेवाला के रे ? तोमरा आटम-बोम फटाम-फोटोम कोरे सारा पृथ्वी के फाटाते पारिस, आर आमि दु-चार जायेगा—खेये फेलेछो क्षुधार ताड़ाय तो चेचाच्छिस ?"

"क्षुधार ताड़ाय ? तबे कि तुमी एकेबारे 'हंग्री' . . . माने . . .हंग्री जेनरेशनेर ?"

"हो-हो-हो-हो, साला भाग—नहले आमि एखूनी लेंगटो हबो—काछा खुले !

मैंने घर में कहा, "आज खिचड़ी बनाओ। ठाकुर 'खिचड़ी' खायेंगे। He is Very हंग्री।"

जवाब मिला, "ठाकुर खाना चाहते हैं या अपनी तबियत हुई है ?"

"एक ही बात है।"

'आज की रात शुरू से अन्त तक बैठकर—देखने देना ठाकुर।'—खिचड़ी-भोग देते समय मैंने अनुनय के स्वर में कहा।

आज प्रार्थना-मण्डप में जगह मिल गयी, बैटने की। किन्तु, 'लीला' जब शुरू हुई तो देखा, मैं औरतों के गिरोह में बैठा हूँ। उठने की चेष्टा की तो एक साथ एक दर्जन नारी-कण्ठों से झिड़की निकली—'बोसे पड़ून !' नहीं, मैं औरतों के झुण्ड में नहीं—औरतें ही मर्दों के साथ बैठ गयी हैं !

सामने पर्दे पर (भैरवी) संन्यासिनी समझा रही हैं रामकृष्ण को—'वत्स ! तोमार मतन उन्मत्तता जाहार आसियाछे, से धन्य ! समग्र ब्रह्माण्डई पागल—केह धनेर जन्य केह सुखेर जन्य, केह नामेर जन्य, केह वा अन्य किछुर जन्य। सेई व्यक्ति-ई धन्य, जे ईश्वरेर जन्य पागल।'

फिर—जब सारदामणि पहली बार अपने स्वामी के पास आयीं। भैरवी (तन्त्र-गुरु) की इच्छा के विरुद्ध

रामकृष्ण ने अपनी पत्नी की पूजा की—'आमि जानियाछि सकल रमनीई आमार जननी ! तथापि एखन तुमि जाहा बलिबे ताहाई प्रस्तुत आछि !'

माँ बोलीं—'आमार आपनाके ज़ोर करिया संसारी करिबार इच्छा नाई आमि आपनार निकट आपनार सेवा एबं साधन-भजन सिखिते—'

...मेरे पास बैठी हुई महिला रोने लगी। मैं भी शायद रोने लगूँगा ! शायद क्यों सचमुच !

तन्त्र की शिक्षा भैरवी ने दी। तब आये तोतापुरी। परम पण्डित और दर्शनशास्त्रविद् संन्यासी—मायावादी तोतापुरी ! ....गुरुदास का जीवन है। निश्चय ही, ठाकुर रामकृष्ण की यह महिमा है कि वह इतना...!

किन्तु, मैं जब कभी रामकृष्ण की 'लीला'—अर्थात् 'फिल्म' बनाऊँगा—रामकृष्ण के अन्य गुरुओं और साधनाओं की कहानी भी दिखलाऊँगा। तोतापुरी के बाद ही गोबिन्दराय को लाकर उपस्थित करूँगा—दक्षिणेश्वर। क्षत्रिय थे। किन्तु, एक भ्रातृत्व के आदर्श पर मुग्ध होकर मुसलमान हो गये हैं, गोविन्द राय। रामकृष्ण दौड़कर उनके पास जाते हैं—'एसेछो ?...आमि मुसलमान हब !'

गोविन्दराय ने अचरज से पूछा—'क्या ?'

—'आमि मुसलमान हब ! इसलामेर पथओ तो एकटा पथ।...इस रास्ते से कितने ही साधक वांछित धाम तक पहुँचे हैं। मैं ही उस पथ को क्यों छोड़ दूं ?... तुमी आमाके दीक्षा दाओ।'

...ला इला हिल्लिल्लाह—मुहम्मद उर्र सूलिल्लाह !—गोबिन्दराय दीक्षा देते हैं। फिर, रामकृष्ण

को दो गजी लुंगी पहनाकर पेश करूँगा। वह मन्दिर के आस-पास तक नहीं फटकता। मूर्तिपूजा की निन्दा करता है। देव-देवी का नाम सुनकर चिढ़ता है। नित्य, पाँचों वक्त की नमाज़। अज़ान। पोखरे में जाकर वजू कर रहा है।...नमाज़ पढ़ते समय चेहरे पर व्याकुलता का भाव। स्पष्ट उच्चारण। अन्त में, एक वृद्ध फ़कीर, जिसके बड़े-बड़े बाल सन के समान सुफेद हैं, सुफेद दाढ़ी—गले में काँच की माला, हाथ में लाठी। एक स्वर्गीय-मुस्कराहट मुख-मण्डल पर— तुमी एसेछो ? वेश...। फिर, रामकृष्ण ने देखा, एक मुसलमान 'सानकी' (थाली) में भात लेकर आया। वह, वहाँ एकत्रित मुसलमानों को खिलाकर—रामकृष्ण को भी एक ग्रास दे गया ।...माँ आमाके देखालेन एक ही है—दूसरा नहीं !

गोबिन्दराय के बाद दिखलाऊँगा—शम्भू मल्लिक का घर ! रामकृष्ण, दीवार पर टँगी हुई एक तस्वीर को देख रहे हैं। तस्वीर—मरियम की गोदी, बालक क्राइस्ट ! पूछते हैं रामकृष्ण—'ये कौन हैं ? बोलो न ?' शम्भू मल्लिक जवाब देते हैं—'वह एक मेम-साहब और उसके बेटे की तस्वीर है।'

रामकृष्ण बालक की तरह विश्वास कर लेते हैं। लेकिन, तस्वीर से आँखें हटा नहीं सकते—फिर पूछते हैं—'कहो न, ठीक-ठीक। कौन हैं ? वह तो कोई देवशिशु जैसा लगता है। और माँ ? वह तो कोई पवित्रता की साक्षात् प्रतिमा ही है।'

शम्भू...माँ मेरी और येसु ख्रिष्ट !

रामकृष्ण देखते ही रहते हैं, एकटक—माँ यशोदा की गोदी में बाल-गोपाल !

कट टु: गिर्जाघर के घण्टे की आवाज़। गिर्जाघर के अन्दर सभी प्रार्थना कर रहे हैं। बाहर, सीढ़ियों के पास रामकृष्ण डगमग कर चलते हैं—धीरे-धीरे सीढ़ियों पर चढ़ते हैं। फिर, दरवाजे के पास आकर खड़े हो जाते हैं!

रामकृष्ण देखते हैं—यह तो काली-मन्दिर ही है। भीतर, वेदी पर माँ बैठी हैं। माँ जगदम्बा। माँ भवतारिणी।

रामकृष्ण की आँखों से आँसू झर रहे हैं। आनन्द के आँसू!

गिर्जाघर से लौटते हुए, ईसाईभक्त श्री मिश्र, देखते हैं रामकृष्ण को और चिल्लाते हैं—'यही ईश्वर हैं, यही राम और यही कृष्ण . . .।'

—'आरे दुत। बलछि, की देखछो?'

मिश्र भरे गले से कहता है—'सिर्फ आपको देख रहा हूँ। आप और यीशु एक . . .!'

रामकृष्ण पर—यीशु का भाव। समाधिस्थ!

कट टु: मथुरबाबू का दक्षिणेश्वर स्थित बँगला।

माइकेल मधुसूदन दत्त आये हैं। रामकृष्ण को देखना चाहते हैं। रामकृष्ण जाना नहीं चाहते—'अरे बाप! उतना बड़ा आदमी—उसके पास खड़ा हो सकूँगा? . . . ओ, नारायण शास्त्री—तुम मेरे साथ चलो। . . .आमि इंगरेजी-टिंगरेजी जानि ना . . .।'

कट टु: तीर्थयात्रा। वैद्यनाथ धाम में मथुरबाबू के साथ रामकृष्ण। साथ में सिपाही, बरकन्दाज, अमला-फैला खजांची वगैरह हैं—मथुरबाबू के। हठात्, रामकृष्ण की दृष्टि—नंग-धड़ंग और गरीब संथालों पर पड़ती है। वे जिद पकड़ते हैं—मथुर! इन्हें भोजन कराओ। कपड़े

दो। नहीं तो, मैं भी नहीं खाऊँगा। मैं भी नंगा हो जाऊँगा। ...अरे, ये ही असल शिव हैं।...क्या? नहीं है सम्भव? तब रखो अपना तीर्थ--आमि जाबो ना कोथाओ।

कट टु: सभी गरीब, कंगाल, अर्द्धनग्नों की भीड़---तृप्तिपूर्वक भोजन कर रहे हैं सभी। रामकृष्ण रो रहे हैं।

अचानक, धक्का खाकर—मन की तस्वीरें मिट गयीं। सामने,, पर्दे पर श्री गिरीश घोष आ चुके थे। नशे में धुत्त---दक्षिणेश्वर आये हैं। आँगन में आकर लड़-खड़ाती हुई आवाज में पुकारते हैं—'केउ आछे ए-ए-इ खाने? ...नेइ केउ!' रामकृष्ण अन्दर से निकलते हैं।

गिरीश घोष के अभिनय से एवं उसके संवाद को सुनकर लोग हँस रहे हैं।

मैं, किन्तु अपनी तस्वीर में यह भी दिखलाऊँगा कि रामकृष्ण---गिरीश घोष का नाटक देखने गये हैं। बाक्स में बैठे हैं! ...नायिकाओं को स्टेज पर देखकर प्रणाम करते हैं।...सत्ति आमि महामाया के देखछी! ...

पीछे खड़े, बकबक करनेवाले नौजवानों में से एक ने पूछा---'की रे सब सत्ति ना गांजा?'

मेरे मन में एक जवाब आया। ज़ोर गले से जवाब देना चाहता था। किन्तु, चुप रहना ही धर्म समझा।

पर, जिन लड़कियों का सान्निध्य पाकर वे नौजवान इतना मुखर थे---उन्हीं लड़कियों में से एक ने जवाब देना, अपना धर्म समझा। आश्चर्य, उसने ठीक वही जवाब दिया---अक्षर-अक्षर---जो मैं देता। वह उलट कर बोली---'आप जिस स्थान पर खड़े हैं, वह सच है या झूठ? यदि सच है तो सामने पर्दे पर जो कुछ देख रहे हैं, वह भी सच है।'

युवकों की टोली वहाँ से हट गयी।

हाँ, मैं हिन्दी में बनाऊँगा, तस्वीर। नहीं, ज़रा भी अस्वाभाविक नहीं लगेगी हिन्दी बोली, रामकृष्ण के मुँह में। किसी भी पात्र के मुँह में!...मेरे पास कुंजी है एक।

निरालाजी ने श्री 'म' लिखित 'श्रीरामकृष्णवचनामृत' का अनुवाद किया है। एक बार, आश्रम में रामकृष्ण जन्मोत्सव के दिन बड़े महाराज स्वामी वीतशोकानन्द ने मुझसे कहा—'आप ही पाठ करें।'

यद्यपि सुननेवालों में अधिक संख्या बंग-भाषियों की ही थी, पाठ हिन्दी में होना था। जब पाठ समाप्त हुआ तो बड़े महाराज, सुनील महाराज तथा स्टुडेण्ट-होम के विद्यार्थियों ने एक स्वर में कहा—'अचरज की बात! ज़रा भी अस्वाभाविक नहीं। रामकृष्ण ने बंगला में ये बातें कही थीं—कभी नहीं मन में उठा।'

बंगला से हिन्दी में अनुवाद करनेवालों से मेरा नम्र निवेदन होगा—वे एक बार इस ग्रन्थ का अनुवाद, मूल से मिलाकर पढ़ जायें। बंगला की पुरानी से लेकर तरुणतम-पीढ़ी की रचनाओं के अनुवाद-कर्म में सहायता मिलेगी। निराला ने अनुवाद नहीं किया है—पूजा की है, भाव-विभोर होकर! तन्मय होकर।

पर्दे पर, तिरोधान की तैयारी कर रहे हैं रामकृष्ण। अन्तिम क्षण : सारदामणि से कहते हैं—'वह, मेरी तस्वीर ले आओ इधर।' सारदामणि, तस्वीर ले आती हैं। रामकृष्ण कहते हैं—'थोड़ा फूल भी देना।'

. . रामकृष्ण ने अपनी तस्वीर पर पुष्पार्पित किया। भक्तिपूर्वक प्रणाम किया——देखना। घर-घर में इस तस्वीर की पूजा होगी . . .घरे-घरे पूजो हबे !

समाप्त

लेकिन, मैं यहीं समाप्त नहीं करूँगा।

दिखलाऊँगा——विधवा सारदामणि हाथ से 'बाला' खोल रही हैं। रामकृष्ण की तस्वीर हँसकर कहती है——केन गो? आमि कि कोथाओ गेछि। ए तो ए घर——आर ओ घर? . . .मैं कहीं गया थोड़े हूँ। यही तो, इस घर से——उस घर में! आमि कि मरेछि जे विधवार वेष धरबे?

□

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

तैंतीसवाँ प्रवचन

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण-मठ मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष हैं। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में और बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काँकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा 'श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृत-प्रसंग' के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। —स.)

श्रीरामकृष्ण बलराम मन्दिर में आए हैं। यह घर मानो उनकी बैठक है। वे गाना सुनने की इच्छा प्रगट करते हैं। गिरीश रचित यह भजन गाया गया—

"केशव कुरु करुणा दीने कुंज—काननचारी।
माधव मनमोहन, मोहनमुरलीधारी ।।
ब्रजकिशोर कालीयहर कातर—भयभंजन,
नयनबाँका बाँका शिखिपाखा, राधिका हृदिरंजन।
गोवर्धनधारण,वनकुसुमभूषण,दामोदरकंसदर्पहारी,
श्याम रासरसविहारी ।।"

यह भजन ठाकुर को बहुत पसन्द आया। पूछने पर पता चला कि गिरीश ने ही चैतन्यलीला के सभी गीतों की रचना की है। यह गाना मंच पर सामूहिक रूप से गाया जाता है। एक ओर पुरुष और दूसरी ओर स्त्रियाँ, एक-एक पद बारी बारी से गाते हैं। गीत की रचना इस प्रकार से हुई है कि इसमें व्रज के गोप और गोपियों— दोनों का भाव व्यक्त होता है। एक ओर कृष्ण का पौरुष

और दूसरी ओर उनका मनोहारी रूप अभिव्यक्त होता है।

इसके बाद ठाकुर के निर्देश पर गायक तारापद निताई के भाव का पद गाते हैं—किशोरीर प्रेम निबि आय, प्रेमेर जोयार बये जाय—(भावार्थ) "किशोरी का प्रेम अगर तुझे लेना है तो चला आ, प्रेम का ज्वार बहा जा रहा है।" श्री गौरांग को 'किशोरी' कहा गया है। श्री गौरांग को देखकर, उनके भाव को अनुभव कर निताई गाते हैं। महाप्रभु राधा भाव में भावित हैं—'राधा भाव द्युति सुललित तनु'—श्री राधा का भक्ति भाव और अंग कान्ति ग्रहण कर वे अवतीर्ण हुए हैं। श्री गौरांग का भाव अवलम्बन कर एक और भजन हुआ—'कार भावे गौरबेशे नदे एसे जुड़ाले हे प्राण'—किसके भाव में गौरांग के वेश में नदिया में आकर तुमने प्राणों को शीतल कर दिया।' वे श्रीराधा और श्रीकृष्ण के सम्मिलित विग्रह हैं, यही भाव इस गीत में समझाया गया है।

सभी लोगों ने मास्टर महाशय से भी एक भजन गाने का आग्रह किया। मास्टर महाशय का कण्ठ मधुर था। वे स्त्रियों जैसी पतली आवाज में बड़े भाव के साथ गाया करते थे। लेकिन बड़े संकोची स्वभाव के थे, इसलिये धीमी आवाज में क्षमा माँगने लगे। किसी संकोची स्वभाव वाले व्यक्ति को जैसे सब मिलकर तंग करते हैं, उसी तरह गिरीश हँसते हुए ठाकुर से कहते हैं, "महाराज, मास्टर किसी तरह नहीं गा रहे हैं।" मास्टर महाशय और भी संकुचित हो रहे हैं। गाना न गाने पर ठाकुर नाराजगी के स्वर में कहते हैं—"वह स्कूल में दाँत दिखाएगा पर गाने में उसे दुनिया भर की लज्जा सवार हो

जाती है।" कई बार यह सोचकर कि उनके मधुर कण्ठ से नारी-भाव-व्यंजक गीत बड़े चित्ताकर्षक लगेंगे, ठाकुर उनसे ये गीत गाने को कहते हैं। मास्टर महाशय लज्जित हो गये। ठाकुर अपने भक्तों को आपस में मिला देते, किसी के भीतर कोई गुण देखकर उसे विकसित कराने का तथा अन्य लोग भी उसका आदर करें ऐसा प्रयास करते थे। वे सुरेश मित्र से कहते, "तुम क्या हो ? ये (गिरीश) तुम से श्रद्धा-विश्वास में अधिक है।" ठाकुर के कहने पर सुरेश बोले, "जी हाँ, मेरे बड़े भाई हैं।"

इसके बाद गिरीश ने दूसरा प्रसंग छेड़ा। उन्होंने बचपन में कुछ पढ़ा-लिखा नहीं, लेकिन फिर भी लोग उन्हें विद्वान् कहते हैं। इस विद्वत्ता के प्रति गिरीश का कैसा भाव है, यह देखने के लिए ठाकुर मास्टर महाशय से कहते हैं, "महिम चक्रवर्ती ने शास्त्रावलोकन खूब किया है—आधार उच्च है, क्यों जी ?" मास्टर महाशय कहते हैं, "जी हाँ" गिरीश बोल उठे, "क्या ? विद्या ? वह बहुत देख चुका हूँ, अब इसके चकमे में नहीं आता।" बचपन में न पढ़कर भी गिरीश घोष ने बाद में बहुत विद्या-चर्चा की है। अब ठाकुर के पादपद्मों में आकर उन्होंने नयी विद्या सीखनी शुरू की है। इसलिए कहते हैं, "अब इसके चकमे में नहीं आता।" वे विद्या की असारता समझ गये हैं।

शास्त्र की प्रयोजनीयता

गिरीश के इस अभिमानशून्य भावना से प्रसन्न होकर ठाकुर हँसते हुए कहते हैं—"यहाँ का क्या भाव है, जानते हो ? पुस्तक, शास्त्र ये सब केवल ईश्वर के पास पहुँचने का मार्ग ही बताते हैं। मार्ग-उपाय के समझ लेने

पर फिर पुस्तकों और शास्त्रों की क्या जरूरत है ? तब स्वयं अपना काम करना चाहिए ।" फिर वे खोए हुए हुए पत्र की बात कहते हैं—चिठ्ठी कहीं खो गई थी, खोजने-ढूँढ़ने पर मिली, उसमें लिखा था—पाँच सेर सन्देश, एक धोती इत्यादि भेजो, तब चिट्ठी को फेंककर सामान की खोज में निकलना पड़ता है। शास्त्र भगवान के पास पहुँचने का मार्ग बताते हैं, लेकिन किताब बन्द करके बैठ जाने से या लोगों के सामने उस बात को बार-बार कहने से क्या होगा ? शास्त्र की सार्थकता तो तब होगी, जब उन्हें समझकर जीवन में उतारने की चेष्टा की जाएगी। इसके पहले तक तो वह केवल चिट्ठी के खबर के समान समाचार या पाण्डित्य मात्र है। भगवान को पाने का उपाय जान लेने तक ही शास्त्र का मूल्य है, तदुपरान्त चिट्ठी की भाँति ही उसे छोड़ देना चाहिए। शास्त्र-निर्दिष्ट पथ पर आगे बढ़ने में ही शास्त्र की सार्थकता है। ठाकुर ने इस बात को अनेक तरह से समझाया है—"शास्त्रों में उनको पाने के उपायों की ही बातें तुम्हें मिलेंगी, परन्तु खबरें लेकर काम करना चाहिए। तभी तो वस्तुलाभ होगा। केवल पाण्डित्य से क्या होगा ? बहुत से श्लोक और बहुत से शास्त्र पण्डितों के समझे हुए हो सकते हैं, परन्तु संसार पर जिसकी आसक्ति है, मन ही मन कामिनी और कांचन पर जिसका प्यार है शास्त्रों पर उसकी धारणा नहीं हुई—उसका पढ़ना व्यर्थ है, पंचांग में लिखा है कि इस साल वर्षा खूब होगी, परन्तु पंचांग को दाबने पर एक बूंद भी पानी नहीं निकलता।"

इसका अभिप्राय यह है कि उपदेशों को आचरण में न उतार कर केवल आवृत्ति करते रहना, यह तो मानो

उन्हें ढोना मात्र है। शास्त्र में इसे कहते हैं—दर्वीपाक रसं यथा—करछुल से सुस्वादु भोजन परसते हैं, लेकिन करछुल को उसका स्वाद नहीं मिलता, क्योंकि स्वाद ग्रहण करने वाली इन्द्रिय उसके पास नहीं है। पण्डित भी केवल करछुल के समान है, जड़ पदार्थ है। जो केवल शास्त्र-चर्चा करते हैं, पर उसे जीवन में उतारने की चेष्टा नहीं करते, उनका शास्त्र पाठ व्यर्थ है। शास्त्र कहते हैं कि यह करना होगा, इससे समाधि होगी। इन सब बड़ी-बड़ी बातों को कण्ठस्थ करने तथा उसकी बार-बार आवृत्ति करने से जीवन में क्या लाभ होता है?

स्वामीजी ने कहा है, "बहुत पढ़-लिखकर आदमी पण्डित मूर्ख हो जाता है!" ठाकुर कहते हैं, "यदि पण्डित में विवेक-वैराग्य न हो तो वह घास-फूस जैसा प्रतीत होता है।" उसका पाण्डित्य व्यर्थ है। शब्दों की फुलझड़ी—वक्तृता का प्रवाह मुख से झर रहा है, एक एक शब्दों की भिन्न भिन्न प्रकार से व्याख्या हो रही है। इससे लोगों से वाह-वाही मिलती है,लेकिन अपना क्या हुआ? शंकराचार्य कहते हैं—

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये॥

विवेक चूड़ामणि/५८

—इन सब व्याख्याओं से अर्थ, यश, मान-सम्मान आदि भोग-सुख प्राप्त होते हैं, लेकिन आध्यात्मिक जीवन में इसका कोई मूल्य नहीं है। बल्कि बाधा ही बनती है. पाण्डित्य का अभिमान होता है। दूसरों को मुग्ध करने के लिए जो पाण्डित्य है, ठाकुर की दृष्टि में उसका मूल्य फूटी कौड़ी भी नहीं है। ठाकुर एक

विख्यात भागवती पण्डित की कहानी बताया करते थे। पण्डित शास्त्रचर्चा करने के बाद राजा से पूछा करते, "राजन्! समझे या नहीं?" राजा भी प्रतिप्रश्न करते, "पण्डितजी, समझे या नहीं?" इस प्रकार कुछ दिन प्रश्न–प्रतिप्रश्न चलने के बाद पण्डित के भीतर शुद्ध बुद्धि का उदय हुआ। वे समझ गए कि सारा जीवन उन्होंने भागवत की केवल व्याख्या ही की है, जीवन में उसे लगाया नहीं है। यही सोचकर उन्होंने संसार का त्याग कर दिया। जाते समय वे राजा के पास खबर भेजते गये, "राजन्! अब मैं समझ गया हूँ।" भागवत में मन को शुद्ध कर उसे ईश्वर में समर्पित कर देने का उपदेश है। जब तक यह नहीं करते, तब तक यथार्थ समझना नहीं होता। इसलिए ठाकुर कहते हैं, "पण्डित खूब लम्बी बातें तो करते हैं, परन्तु उनकी नजर कहाँ है?—कामिनी और कांचन पर—देह-सुख और रुपयों पर। गीध बहुत ऊँचे उड़ता है, परन्तु उसकी नजर मरघट पर ही रहती है। वह बस मुर्दे की लाश ही खोजता रहता है—कहाँ है मरघट और कहाँ है मरा हुआ बैल!"

अब ठाकुर की नजर सम्भवतः नरेन्द्र की ओर गयी, इसीलिए वे गिरीश से कह रहे हैं, "नरेन्द्र बहुत अच्छा है, गाने-बजाने में, पढ़ने-लिखने में—सब बातों में पक्का है, इधर जितेन्द्रिय भी है, विवेक और वैराग्य भी है, सत्य-वादी भी है। उसमें बहुत से गुण हैं।" मास्टर महाशय से भी पूछते हैं, "क्यों जी! कैसा है, अच्छा है न खूब?" मास्टर महाशय भी समर्थन करते हैं, 'जी हाँ, बहुत अच्छा है।" यह सब कहने के पीछे दो उद्देश्य हैं। पहला तो यह

कि भक्तों के बीच आपस में प्रगाढ़ सम्पर्क, प्रीति और श्रद्धा का भाव स्थापित करना और दूसरा यह कि ठाकुर जब एक व्यक्ति में किसी गुण की प्रशंसा करते तो लोग सोचते कि वे इन गुणों को पसन्द करते हैं, अतः अपने भीतर उन्हीं गुणों का विकास करने का प्रयत्न करना होगा। इसी कारण वे एक के सामने दूसरे की प्रशंसा करते थे।

गिरीश घोष

कुछ पहले ठाकुर ने गिरीश के बारे में चर्चा की थी। अब फिर से उसे दुहराते हुए कहते हैं, "देखो, उसमें खूब अनुराग और विश्वास भी है।" मास्टर अवाक होकर एक दृष्टि से गिरीश को देख रहे हैं। गिरीश अभी कुछ दिनों से ठाकुर के पास आ रहे हैं, लेकिन मास्टर ने देखा मानो वे चिर-परिचित हैं, बहुत दिनों का साथ है, परम आत्मीय हैं। मानो एक धागे में पिराये हुए मणियों में से एक हों।

गिरीश के साथ ठाकुर का अद्भुत सम्बन्ध हमारे लिए कल्पनातीत है। ठाकुर गिरीश के सैकड़ों अत्याचार सहते हैं। कभी-कभी वे ठाकुर को अनुचित गालियाँ भी बक देते हैं। एक दिन की बात है—नशे में डूबे गिरीश ने ठाकुर के प्रति अत्यन्त अपमानजनक शब्द कह दिया। ठाकुर के दक्षिणेश्वर चले जाने के बाद गिरीश सोचते हैं, "इतना क्या कोई सहन कर सकता है? अब तो उनके पास जाने का रास्ता बन्द हो गया और यदि मैं उनके पास न जा सका तो मेरा जीवन ही व्यर्थ है।" इसी पश्चाताप और अश्रुधारा में गिरीश डूबते चले जा रहे हैं। इधर दक्षिणेश्वर में ठाकुर अधीर हो उठे। कहते हैं,

"मुझे गिरीश के पास जाना होगा। इस घटना के प्रत्यक्ष-दर्शी भक्तगण विस्मित होकर सोचते हैं, "गिरीश ने ठाकुर को इतने अपशब्द कहे, गालियाँ दीं, तो भी ठाकुर उनके पास जाने के लिए इतने उतावले क्यों हो रहे हैं?" यह एक आश्चर्यजनक बात है, जो उन लोगों की कल्पना से परे है। कई बार समझाने के बाद भी ठाकुर नहीं माने। तब उनके लिए गाड़ी मँगायी गयी। मार्ग में लगने वाला समय ठाकुर से सहा नहीं जा रहा था। अधिक तेज चलने के लिए कह रहे हैं। घर के निकट पहुँचने के बाद वे गाड़ी से उतरकर बड़ी तेजी से घर की ओर चले। घर के भीतर पहुँचकर उन्होंने गिरीश को उसी अवस्था में देखा। गिरीश ठाकुर के चरणों में प्रणत होकर बोले, "आप अवतार हैं, क्या इस विषय में अब और कोई सन्देह बाकी रह सकता है? लेकिन इसमें मेरा भी क्या दोष? जिसे आपने विष दिया है, वह विष के अतिरिक्त और किस चीज से आपकी पूजा करेगा?" ठाकुर समझ गये। वे पहले ही जानते थे कि गिरीश व्याकुल है, इसलिए स्वयं ही आकर उनके मन को शान्त किया।

ठाकुर का अपने पार्षदों के साथ ऐसा ही प्रगाढ़ सम्बन्ध था। वे कहते, "किसी किसी को देखते ही क्यों खड़ा हो जाता हूँ, जानते हो? पुराना परिचय है, पर काफी काल के विछोह के बाद अचानक भेंट होने पर उससे मिलने के लिए जैसे प्राण उछलने लगता है वैसे ही मैं तुरन्त उठकर खड़ा हो जाता हूँ।" अन्तरंग है न, मानो यह चुनने की प्रक्रिया है। यह बात अलग है कि गिरीश को उतना प्यार करते हुए भी वे अपने त्यागी सन्तानों को उनसे सावधान कर देते हैं, "देखो, गिरीश

बड़ा अच्छा है, परन्तु है लहसुन का कटोरा। उसमें से लहसुन की गन्ध गयी नहीं है।" अर्थात् त्यागी सन्तानों के देह में यह गन्ध न लगने पाये। जो गिरीश को अच्छा कहकर इतनी प्रशंसा करते हैं, उनके प्रति भी भक्तों को सावधान कर देते हैं। गिरीश ठाकुर को कटु वचन कहते हैं और ठाकुर को उसे प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करते देखकर एक भक्त ने सोचा कि इस प्रकार गाली देने से लगता है ठाकुर प्रसन्न होते हैं। एक बार उन्हें गिरीश के अनुकरण पर कुछ कुछ उसी तरह का उच्छृंखल व्यवहार करते देखकर ठाकुर हँसते हुए बोले, "अरे, तेरा वह भाव नहीं है।" नरेन्द्र व गिरीश के लिए जो पथ्य है, वह दूसरों के लिए नहीं है। ठाकुर इस मामले में बड़े सावधान होकर, बड़े हिसाब से देखते कि किसके लिए कौन सा पथ्य उचित है। दूसरों का इस तरह अनुकरण करने से अकल्याण होता है। एक दिन तारक (स्वामी शिवानन्द) को अपने उपदेश नोट करते देखकर वे हँसते हुए बोले. "यह काम तेरा नहीं है, इसके लिए दूसरा आदमी है।" श्री 'म' लिखा करते थे, इसीलिए ठाकुर उनसे पूछते थे, "अच्छा उस दिन अमुक के घर जाकर मैंने क्या कहा था. बताओ तो?" मास्टर महाशय के बताने पर कहते, "और क्या कहा था?" इस तरह खोद खोद कर देख लेते कि पूरे दिन की बातें मास्टर महाशय को याद हैं या नहीं? फिर संशोधन करते हुए कहते, "नहीं. वैसे नहीं, इस प्रकार कहा था।" यह मानो छपने के बाद भूल-सुधार के लिए 'प्रूफ' देखने जैसा था। श्री 'म' के द्वारा यह कार्य कराना था, इसीलिए वे उन्हें इस प्रकार से तैयार करते हैं।

नरेन्द्रनाथ

फिर इसी तरह वे नरेन्द्र को संघनेता के रूप में गढ़ते हैं। उनकी उमर उस समय बहुत से अन्य गुरुभाइयों की अपेक्षा कम थी, फिर भी वे उनके भीतर भावी नेता को देखते हैं सभी से प्रत्यक्ष रूप से कहते हैं, "नरेन्द्र शिक्षा देगा।" उनके गुरुभाइयों ने भी समझ लिया कि नरेन्द्र ठाकुर द्वारा चिह्नित नेता हैं, अतः नरेन्द्र के आदेशानुसार चलना ही उचित है। इसीलिए मतभेदों के बावजूद वे नरेन्द्र के नेतृत्व को निःसन्दिग्ध भाव से स्वीकार करके उनके आज्ञाकारी रहे। पहले से ही ठाकुर ने उन्हें इस प्रकार से तैयार किया है। गिरीश को भी वे विश्वास के दृष्टान्त रूप में छोड़ जाने के लिए गढ़ रहे हैं। इसी प्रकार वे अपने पार्षदों में एक एक अलौकिक दृष्टान्त रख गये हैं। उनमें से एक एक जन एक एक भाव के दिग्पाल हुए। एक एक के भीतर एक एक भाव प्रस्फुटित हो उठा था। उनके जीवन में उसे पूर्ण रूप से प्रस्फुटित करने के लिए ठाकुर उन्हें प्रोत्साहित करते हैं और अन्य किसी को उसका अनुकरण करते देख उसे मना करते हैं। कुशल गृहिणी की भाँति जिसके पेट के लिए जो उपयुक्त है, तदनुसार भोजन की व्यवस्था करते हैं। उन्हीं के शब्दों में, 'जिसके पेट में जो सहता है, माँ उसे वही देती है।' प्रत्येक के भीतर वे एक पृथक भाव या आदर्श विकसित कर रहे हैं और इसी का एक दृष्टान्त यहाँ वे दे रहे हैं।

अब नारायण ठाकुर से पूछते हैं कि उनका गाना और होगा या नहीं? इस प्रश्न पर साधारण व्यक्ति सोचेगा कि नारायण लड़का है और वह ठाकुर से फिर

पूछता है कि गाना होगा कि नहीं। वास्तव में उनके बीच ऐसा ही सम्बन्ध था। जिस तरह सपेरे के बीन से साँप सम्मोहित हो जाता है, उसी तरह ठाकुर के भजन गाने पर उनके पार्षदगण मुग्ध, अभिभूत और भावविभोर हो जाते थे।

संगीत और ईश्वरीय भाव

ठाकुर अपने भक्तों को भोर के समय किस प्रकार साधन-भजन करने का निर्देश देते थे, इस विषय में एक दिन पूछे जाने पर स्वामी शिवानन्दजी महाराज ने कहा था, "अरे भाई! ठाकुर बड़े सबेरे उठ कर मधुर स्वर में भगवन्नाम का उच्चारण करते थे। इतने मधुर स्वर से कि पत्थर पिघल जाय। तब साधन-भजन, जप-ध्यान के बिना ही मन खूब ऊँचाई पर उठ जाता था।" संगीत का ऐसा ही प्रभाव है। और उनके मधुर कण्ठ से निःसृत संगीत का प्रभाव तो और भी अद्भुत था। ठाकुर के भक्त कहते कि उनका और नरेन्द्र का गाना छोड़कर और किसी का गाना कानों को नहीं सुहाता। अद्भुत था वह संगीत! उनके शिष्यगण उसे साधना का एक अन्तरंग उपाय मानते। वे सभी भजन गाते थे तथा उनमें से अनेक सुकण्ठ गायक थे। अद्भुत था वह गायन! वही गाना जब इतना मधुर लगता, तो फिर जिस गाने से वे लोग सम्मोहित होते थे, वह गाना कितना मधुर होता होगा!

स्वामीजी के समान उनके गुरुभाइयों को हो सकता है कि शास्त्रीय संगीत का उतना विशद ज्ञान न रहा हो, परन्तु उन सभी में भजन-संगीत की भावधारा मानो उनके सम्पूर्ण हृदय को निचोड़ कर निःसृत होती थी।

जो साधक थे, उनका यही प्रयास रहता कि उनमें भी यही संगीत प्रेम उत्पन्न हो ! संगीत के आनन्द के द्वारा भगवदानन्द का रस लोगों के मन में प्रवाहित होगा, इसीलिए ठाकुर चाहते कि सबको संगीत के प्रति आकर्षण हो। ठाकुर के सब शिष्यगण भी यही चाहते थे। स्वामी ब्रह्मानन्द अपने सेवकों में सदा कुछ सुकण्ठ गायक भी रखते थे। सुकण्ठ होने के कारण वे उन्हें प्यार करते और उनसे भजन सुनते। महाराज के सामने गाने से उसकी मर्यादा बढ़ जाती थी। एक ओर रहता भजन का सुर तथा भाव-माधुर्य और दूसरी ओर महाराज का भाव-गाम्भीर्य एवं बीच-बीच में समाधि में चले जाना। जो लोग वहाँ उपस्थित रहते, वे इसकी संक्रामक शक्ति के द्वारा एकदम अभिभूत हो जाते। इसी को संगीत का माधुर्य कहते हैं।

श्रीरामकृष्ण मधुर कण्ठ से माँ के भजन गा रहे हैं जिनके भावार्थ इस प्रकार हैं— (१) रे मन, अपनी प्यारी श्यामा माँ को हृदय में यत्नपूर्वक रखना। (२) माँ, स्वयं आनन्दमयी होकर, तुम मुझे निरानन्द न करना। (३) शिव के साथ तुम सदा आनन्द में निमग्न रहा करती हो। —ये तीन भजन हुए। भक्तगण एकटक दृष्टि से ठाकुर का आत्मविह्वल मतवाला भाव देख रहे हैं। इस भजन के सम्बन्ध में एक बात कहनी है। ठाकुर जो भजन गाते या पसन्द करते थे, वे सब विषाद के नहीं अपितु आनन्द के होते थे। और जिनमें पापी-तापी का भाव होता उन्हें वे नापसन्द करते। उनका कहना था, "जो अपने को 'मैं पापी हूँ, मैं पापी हूँ' कहता है, वह साला पापी ही हो जाता है।" ठाकुर के गाने का वैशिष्ट्य यह था कि

उसमें भाव तो पूर्ण मात्रा में रहता ही था पर साथ ही भजन में अन्तर्निहित भाव भी उनके सम्पूर्ण शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त होता रहता था। इसीलिए उनके भजन में जो असाधारण माधुर्य होता था, उसकी अन्यत्र कहीं भी अपेक्षा नहीं की जा सकती।

ठाकुर के देह-मन की समरसता

ठाकुर का देह-मन एक ऐसा यंत्र हो उठा था कि उसमें जो भी भाव उठता, वह पूर्ण रूप से अभिव्यक्त होता था। जैसे एक छोटा बच्चा सरल होता है और उसके मन में कोई भाव उठने पर उसके समस्त देह से वह प्रस्फुटित हो उठता है। उसके बोलने पर ध्यान दिया जाय तो पायेंगे कि वह अपने पूरे शरीर से ही बोल रहा है। ठाकुर का भी ठीक इसी प्रकार था। जिस देवता का चिन्तन या भाव मन में उठता, उनकी देह भी उसी भाव में भावित हो जाती थी। इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त 'वचनामृत' में तथा अन्यत्र मिलते हैं। उदाहरणार्थ, जब ठाकुर श्यामपुकुर के मकान में निवास कर रहे थे तो वहाँ उनके आदेशानुसार काली-पूजा का आयोजन हुआ! प्रतिमा अब तक नहीं आयी थी। कौन पुजारी होगा, यह भी निश्चित नहीं हुआ था। पूजा के बारे में बोलते बोलते ठाकुर अचानक ही माँ के भाव में ऐसे निमज्जित हो गये कि वे वराभय मुद्रा में खड़े हो गये। तब गिरीश आदि भक्तों ने सोचा कि अब मिट्टी की प्रतिमा की क्या आवश्यकता? ये ही तो माँ हैं! साक्षात् माँ! तब सभी, 'जय माँ, जय माँ' कहते हुए ठाकुर के चरणों में पुष्पांजलि देने लगे। ठाकुर समाधिस्थ हुए। अलौकिक नहीं अपितु लौकिक दृष्टि

से देखना होगा कि विशेष काल-माहात्म्य के अनुसार ठाकुर के अन्तःकरण में जो भाव जाग्रत होता था, उनकी समस्त देह भी उसी में रूपान्तरित हो जाती थी। काली-पूजा के दिन माँ का चिन्तन होते ही उनका उसी भाव में रूपान्तरण हो गया।

यह शास्त्र का सिद्धान्त है। दीर्घ साधना के बाद साधक इस अवस्था की किंचित् उपलब्धि कर सकता है। उपासना शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—जिनकी उपासना हो रही है, उनका चिन्तन करते करते उपासक उपास्य में रूपान्तरित हो जाता है। जिन्होंने भी ठाकुर को देखा था, उन्होंने यही बात कही। केवल श्यामपुकुर ही नहीं, अन्यत्र भी इस तरह की अनेक घटनाएँ हुईं। यह जगन्माता के हाथों से बनाया गया एक ऐसा दोषरहित यंत्र है कि जिसका प्रत्येक तार भावों के साथ एक सुर में मिला हुआ है और उनका पूरा शरीर इसी भाव को चारों ओर प्रवाहित कर रहा है। भावों की यह पूर्णांग अभिव्यक्ति, समस्त देह-मन के द्वारा भाव का यह अनुसरण, केवल श्रीरामकृष्ण के समान अवतारी पुरुषों के जीवन में ही सम्भव है।

O

ईश्वर ही वस्तु है, बाकी सब अवस्तु। परमात्मा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं के साक्षी स्वरूप हैं। स्वप्न जितना सत्य है, जाग्रत भी उतना ही सत्य है।

—श्रीरामकृष्ण

श्री चैतन्य महाप्रभु (१२)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बंगला में लिखित उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ श्री चैतन्य महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है, जिसका हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवादक हैं स्वामी विदेहात्मानन्द। —स.)

विद्यानगर *उन दिनों उड़ीसा के ही अन्तर्गत आता था। महाराज प्रतापरुद्र के अधीन रामानन्द राय उस प्रदेश का शासन चलाते थे। राय पुरी के निवासी थे। उनके पितामाता और सगे-सम्बन्धी सभी पुरी में ही रहते थे। चैतन्यदेव ने पुरी में रहते समय सार्वभौम से भक्तितत्त्वज्ञ रामानन्द के बारे में बहुत कुछ सुना था। राय रामानन्द एक ओर जैसे कुशल राजनीतिज्ञ, प्रतापी प्रजारंजक शासक थे; वहीं दूसरी ओर असाधारण पण्डित, यथार्थ तत्त्वद्रष्टा एवं प्रेमिक भक्त भी थे। सिद्धभक्त रामानन्द साधन-भजन के बल पर जीवन्मुक्त अवस्था को पाकर संसार में निवास करते थे। पहले तो प्रेमी भक्त रामानन्द की भगवद्भक्ति और प्रेमभाव पर पाण्डित्याभिमानी सार्वभौम की विशेष श्रद्धा नहीं थी, बल्कि वे इन सब को तुच्छ ही मानते थे। परन्तु चैतन्यदेव की कृपा से अब उनका चित्त शुद्ध हो जाने के कारण वे अपने पूर्व भाव के लिए पश्चात्ताप करने लगे। इसीलिए पुरी से चैतन्यदेव की विदाई के समय सार्वभौम ने उन्हें रामा-

---

* विद्यानगर—वर्तमान राजामन्ड्री के निकट एक स्थान है। कहते हैं कि राजामन्ड्री के दक्षिण में गोदावरी के उस पार कवुर नामक स्थान में चैतन्यदेव का रामानन्द राय के साथ साक्षात्कार हुआ था।

नन्द राय की भक्तिशास्त्र में असाधारण गति तथा साधन-भजन के फलस्वरूप हुई उनकी अपूर्व उपलब्धि के बारे में अवगत कराया था; और उनसे विशेष रूप से अनुरोध किया था, "आप विद्यानगर में राय के साथ अवश्य भेंट करें, इससे आपको अतीव आनन्द होगा तथा भक्तिमार्ग एवं साधन-भजन के विषय में अनेक उच्च तत्त्व भी सुनने को मिलेंगे ।

विद्यानगर पहुंचकर चैतन्यदेव ने गोदावरी में स्नान किया । स्नान के पश्चात् वे घाट के समीप ही एक अपेक्षाकृत निर्जन स्थान में बैठकर भगवच्चिन्तन कर रहे थे कि उसी समय रामानन्द अपनी पालकी में चढ़े स्नानार्थ घाट पर आ पहुँचे । उनके आगे आगे अनेक ब्राह्मण वेदपाठ कर रहे थे और पीछे अनेक वादक विविध प्रकार के वाद्य बजा रहे थे । पारिषद्, अंगरक्षक सैन्यदल और भृत्यगण के साथ राजोचित भाव से आकर रामानन्द राय घाट पर उतरे और शास्त्रविधि के अनुसार अत्यन्त निष्ठापूर्वक स्नान-दान आदि कृत्य सम्पन्न किया । समारोह और लोगों का व्यवहार देखकर चैतन्यदेव समझ गये कि ये ही यहाँ के शासक राय रामानन्द हैं । कर्तव्यकर्म समाप्त करने के बाद राय ने घाट पर खड़े होकर इधर-उधर दृष्टि फेरी और निकट ही सुखासन में बैठे तेजपुंजकाय युवा संन्यासी की ओर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ । राय तेजी से चलकर संन्यासी के पास पहुँचे और अतीव भक्तिभाव से उनका अभिवादन किया । संन्यासी ने भी भगवन्नाम का उच्चारण करते हुए यथायोग्य सम्मान प्रदर्शित कर स्नेहपूर्वक उनका स्वागत किया । शुभकामनाएं व्यक्त करने के पश्चात् संन्यासी ने पूछा कि क्या आप ही राय रामानन्द हैं ।

सकारात्मक उत्तर मिलने पर अतीव पुलकित होकर राय का प्रेमालिंगन करते हुए वे बोले "पुरी में सार्वभौम ने आपके महत्व का मुझे विशेष रूप से परिचय दिया है। आपका दर्शन करने ही मैं यहाँ आया हूँ।" प्रेम के स्पर्श से दोनों के अन्तर में भाव का उदय हुआ और देह में अश्रु पुलक आदि सात्त्विक विकार प्रकट हुए। दोनों एक-दूसरे का परिचय पाकर अत्यन्त हर्षित हुए। भावविभोर होकर गदगद स्वर में राय ने कहा, "सार्वभौम मुझे भृत्य के रूप में स्वीकार कर, परे रहकर भी मेरे हितसाधन में लगे रहते हैं। आज उनकी कृपा से मुझे तुम्हारे चरण-दर्शन हो गये और मेरा मानवजन्म सार्थक हो गया। कहाँ तुम साक्षात् नारायण हो और कहाँ मैं राजसेवक, विषयी शूद्राधम हूँ।"

उपस्थित लोग यह दृश्य देखकर अति विस्मय के साथ आपस में कहने लगे, "अरे! ये संन्यासी तो ब्रह्म के समान तेजस्वी दीख पड़ते हैं। ये शुद्र का आलिंगन करके भला रुदन क्यों कर रहे हैं! हमारे ये महाराज तो बड़े गहन पण्डित हैं, आज ये संन्यासी के स्पर्श से मत्त और अस्थिर हो रहे हैं।"

इस प्रकार प्रारम्भिक परिचय और वार्तालाप हो जाने के बाद रामानन्द ने चैतन्यदेव से कुछ दिन विद्यानगर में ठहर जाने की प्रार्थना की। चैतन्यदेव की सम्मति मिल जाने पर उनके 'आसन' हेतु एक मनोरम एकान्त स्थान की तथा अन्यान्य व्यवस्थाएँ कर ली गयी। राय के संगी एक ब्राह्मण ने अत्यन्त विनयपूर्वक संन्यासी को अपने घर आकर भिक्षा ग्रहण करने का आमन्त्रण दिया। तदनुसार चैतन्यदेव ब्राह्मण के घर चले और राय भी प्रणाम के पश्चात् विदा लेकर अपने निवासस्थान को लौटे।

राय को अवकाश बड़ा कम मिलता था, प्रतिदिन के राजकार्य में ही उनका सारा दिन बीत जाता था। भक्तिमान ब्राह्मण के घर भिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् चैतन्यदेव अपने आसन पर आकर विश्राम करने लगे। सन्ध्या के समय अपने काज-कर्म से छुट्टी पाकर राय उनके चरणों में उपस्थित हुए। सार्वभौम से उनकी प्रशंसा सुनकर चैतन्यदेव के मन में रामानन्द से भक्ति क उच्च-तत्त्व तथा भजन प्रणाली जानने की विशेष इच्छा जाग्रत हुई थी। अब राय को एकान्त में पाकर उन्होंने अपनी वही इच्छा व्यक्त की। राय अत्यन्त संकुचित होकर बोले, "आप संन्यासी हैं, जगद्गुरु हैं, मैं गृहस्थाधम विषयी हूँ; मैं ही आपसे भगवान की बातें सुनना चाहता हूँ। कृपा करके मुझे भवसागर से पार होने का पथ बताइए।" प्रभु ने कहा, "मैं तो एक मायावादी संन्यासी हूँ, भक्तितत्त्व नहीं जानता और मायावाद में विचरण करता रहता हूँ। सार्वभौम का संग करके मेरा मन निर्मल हो गया। तब मैंने उनसे कृष्णभक्तितत्त्व के बारे में जिज्ञासा की। उन्होंने भी कहा कि मैं तो कृष्ण-कथा नहीं जानता, केवल रामानन्द को ही इसका ज्ञान है, पर वे भी यहाँ उपस्थित नहीं। मैं तुम्हारी महिमा सुनकर तुम्हारे यहाँ आया हूँ और मुझे संन्यासी जानकर तुम मेरी स्तुति कर रहे हो। मुझे संन्यासी जानकर कृपया मुझे वंचित न करो. राधाकृष्ण-तत्त्व बताकर मेरे मन की आकांक्षा पूर्ण करो।"

राय चैतन्यदेव के बारम्बार अनुरोध की उपेक्षा न कर सके और अन्ततः सहमत हुए। चैतन्यदेव प्रश्न करने लगे और राय शास्त्रप्रमाण देते हुए भक्ति एवं भगवत्तत्व के सिद्धान्त बोलने लगे। 'चैतन्य-चरितामृत' ग्रन्थ में

दोनों का वार्तालाप अति विस्तारपूर्वक वर्णित हुआ है। उससे चैतन्यदेव द्वारा प्रचारित भक्तिमार्ग के सिद्धान्तों का विशेष परिचय मिलता है। चैतन्यदेव ने जब देखा कि रामानन्द द्वारा निरूपित सिद्धान्त अपनी अनुभूति तथा शास्त्रवाक्यों के साथ मिल रहे हैं, तो बाद में उन्होंने अपने विशेष अन्तरंग और प्रमुख प्रचारक श्री रूप और श्री सनातन को इसकी शिक्षा दी थी। नीचे हम रामानन्द और चैतन्यदेव के बीच हुई चर्चा के संक्षिप्त विवरण का भावानुवाद प्रस्तुत करते हैं—

"प्रभु बोले, तुम श्लोक पढ़ो और निर्णय करो साध्य का।
कहें राय, हरि-भक्ति लभ्य, करके पालन स्वधर्म का।।
प्रभु बोले, यह बाह्य हुआ, अब कहो और आगे का।
कहें राय, कृष्ण कर्मार्पण सार सर्व लक्ष्यों का।।
प्रभु बोले, यह बाह्य हुआ, अब कहो और आगे का।
कहें राय, स्वधर्मत्याग है, सार भक्ति साध्य का।।
प्रभु बोले, यह बाह्य हुआ, अब कहो और आगे का।
कहें राय, है ज्ञानमिश्र भक्ती ही, सार साध्य का।।
प्रभु बोले, यह भी है बाह्य, कहो और आगे का।
कहें राय, है ज्ञानशून्य भक्ती ही सार साध्य का।।
प्रभु बोले, यह भी होता है, कहो और आगे का।
कहें राय, है प्रेमभक्ति ही, सार सर्व साध्य का।।
प्रभु बोले, यह भी होता है, कहो और आगे का।
कहें राय, है दास्य प्रेम ही, सार सर्व साध्य का।।
प्रभु बोले, यह भी होता है, कहो और आगे का।
कहें राय, है सख्यप्रेम ही, सार सर्व साध्य का।।
प्रभु बोले, यह भी उत्तम है, कहो और आगे का।
कहें राय, वात्सल्य-प्रेम ही, सार सर्व साध्य का।।

प्रभु बोले, यह भी उत्तम है, कहो और आगे का ।।
कहें राय, है कान्तभाव ही, सार सर्व साध्य का ।।
सर्व साध्य में महाश्रेष्ठतम राधा-प्रेम यही है।
इसकी महिमा सर्व शास्त्र ग्रन्थों में व्यक्त हुई है।"

इस प्रश्नोत्तर में भक्तिमार्ग से प्रारम्भ करके सर्वोच्च साधना की बात कही गयी है। पहले स्वधर्माचरण—शास्त्र-विधि के अनुसार अपने वर्ण एवं आश्रम के लिए विहित कर्तव्यों को सम्पन्न कर लेने पर भगवद्भक्ति का उदय होता है। तत्पश्चात् भगवदार्पण करते हुए निष्काम भाव से उन कर्मों को करने से चित्तशुद्धि होकर भगवान के प्रति अनुराग में वृद्धि होती रहती है। उनके प्रति अनुराग हो जाने पर उन समस्त (वर्णाश्रमोचित) कर्मों का त्याग हो जाता है और मन उन्हीं की ओर लगा रहता है। इसके बाद की अवस्था में भक्त-साधक शास्त्रविधि के अनुसार भगवान के भजन में लगे रहते हैं, यही ज्ञानमिश्रा भक्ति है। और भी आगे बढ़ने पर मन में जितना ही अनुराग बढ़ता है, उतनी ही विचार-विधि कम होती जाती है, इसी को (ज्ञानशून्या) शुद्धाभक्ति कहते हैं। तत्पश्चात् अनुरक्त भक्त के हृदय में भगवान के प्रति ममत्व का बोध आता है, तब वे भगवान को अत्यन्त अपना जन समझने लगते हैं, इसी का नाम शान्त प्रेमाभक्ति है। प्रेमाभक्ति से भाव के अनुसार भक्त के अन्तर में क्रमश: शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर—इन पंचविध रस का विकास होता है। हर परवर्ती भाव में अधिकतर रस-माधुर्य का विकास होता है। प्रेम की सर्वोच्च अभिव्यक्ति गोपीप्रेम में—कान्ताभाव से भजन करने में है। फिर इसमें भी राधाप्रेम ही सर्वोत्कृष्ट है। रामानन्द राय ने यह समस्त

तत्त्व शास्त्रप्रमाण सहित चैतन्यदेव के समक्ष वर्णन किया। स्वधर्माचरण से ज्ञानमिश्रा भक्ति अर्थात् वैधी उपासना तक, भजन-भक्ति का बाह्यावरण—बहिरंग है। इन सब अवस्थाओं से पार हो जाने पर प्रेमाभक्ति की उपलब्धि होती है। शुद्धाभक्ति के फलस्वरूप ऐश्वर्यबोध क्रमशः क्षीण होकर, भगवान के माधुर्य-स्वरूप का अनुभव होता है।

इसके अनन्तर चैतन्यदेव के श्रीराधाकृष्ण-तत्त्व सुनने की इच्छा व्यक्त करने पर रामानन्द ने उसका भी शास्त्रप्रमाण के साथ वर्णन किया।

चैतन्यदेव—"श्रीकृष्ण का क्या स्वरूप है?"

रामानन्द—"ईश्वरःपरमःकृष्णःसच्चिदानन्द विग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणः॥"*

—जो सृष्टि-स्थिति-प्रलयकर्ता हैं, सम्पूर्ण जगत के आश्रय (मूलसत्ता) परमात्मा परब्रह्म सच्चिदानन्दमूर्ति हैं, जो अनादि हो होकर भी सबके आदि हैं, जो सर्वप्रपंच कारणीभूत माया के भी कारण हैं, वे गोविन्द ही श्रीकृष्ण हैं।

चैतन्यदेव—"श्रीराधा के स्वरूप का वर्णन कीजिए।"

रामानन्द—"देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा॥"†

—जो निखिल सौंदर्य एवं निखिल ऐश्वर्य की आधार-भूता हैं, त्रैलोक्यविमोहिनी हैं, सर्वातीता तथा सर्वपालिका

* ब्रह्मसंहिता।

† बृहत् गौतमीय तंत्र।

हैं और परमात्मा श्रीकृष्ण के साथ अभिन्न हैं; उनकी स्वरूप-शक्ति को ही शास्त्र में देवी राधिका के रूप में वर्णन किया गया है। "कृष्ण को आह्लाद प्रदान करती हैं अतः उनका नाम आह्लादिनी है। इसी शक्ति के द्वारा सुख का अपने आप आस्वादन होता है। सुखरूप कृष्ण सुख का आस्वादन करते हैं और ह्लादिनी शक्ति के द्वारा भक्तों को सुख देते हैं। ह्लादिनी के सार अंश को ही प्रेम कहते हैं और आनन्द-चिन्मय रस के रूप में प्रेम का वर्णन किया जाता है। फिर प्रेम के परम सार को महाभाव समझना चाहिए और राधारानी उसी महाभाव की प्रतिमूर्ति हैं।...राधा पूर्ण शक्ति हैं और कृष्ण पूर्ण शक्तिमान हैं शास्त्र के प्रमाणानुसार दोनों में कोई भेद नहीं। जैसे मृग का कुण्डल और उसका गन्ध अविच्छेद है, जैसे अग्नि और उसकी ज्वाला अभेद है, वैसे ही राधाकृष्ण भी सदा एक ही स्वरूप है और लीला रस का आस्वादन करने के लिए दो रूप धारण करते हैं।"

चैतन्यदेव--"विभिन्न भावों की उपलब्धि के बीच कोई तारतम्य भी है क्या?"

रामानन्द--"कृष्ण की प्राप्ति के अनेक उपाय हैं और उनकी प्राप्ति में अनेक तारतम्य भी हैं, परन्तु जिसका जो भाव है उसके लिए वही सर्वोत्तम है और तटस्थ होकर विचार करने पर तारतम्य नहीं भी है।"

चैतन्यदेव--"कौन से भाव में माधुर्य का सर्वाधिक आस्वादन होता है?"

रामानन्द--"कान्ता भाव में--मधुर रस के भजन में ही सर्वाधिक माधुर्य है।"

चैतन्यदेव—"कान्ताभाव उपासना की क्या प्रणाली है?"

रामानन्द—"श्रीमती राधारानी की किसी सखी के भाव का आश्रय लेकर साधना करने से वह तत्त्व स्फुरित होता है। सखी के अतिरिक्त इस लीला में अन्य किसी को प्रवेश नहीं है। जो सखीभाव का आश्रय लेकर साधन करता है, उसी को 'राधाकृष्णकुंजसेवा' का साध्य प्राप्त होता है। इस साध्य की उपलब्धि का अन्य कोई उपाय नहीं है।"

चैतन्यदेव—"आपने बताया कि कृष्ण की प्रेयसियों में राधारानी ही श्रेष्ठ हैं। तो फिर उनका भाव छोड़कर उनकी सखियों के भाव का आश्रय लेने का क्या कारण है?"

रामानन्द—"प्रेमी भक्त अपने सुखभोग की आकांक्षा से भगवान का भजन नहीं करते। केवल प्रेमास्पद की अधिकाधिक सुख कामना ही निष्काम प्रेम का लक्षण है। राधारानी के प्रेम से श्रीकृष्ण अत्यधिक उल्लसित होते हैं, यह जानकर सखियों की एकमात्र आकांक्षा रहती है कि राधाकृष्ण मिलन हो और हम युगलमूर्ति की सेवा करें। सखियों का निष्काम भजन ही साधक का आदर्श है। गोपीप्रेम कामगन्धहीन है। राधाजी कृष्णप्रेम की कल्पलता हैं और सखियाँ उसके पल्लव और पुष्प हैं। यदि कृष्णलीला के अमृत से लता का सिंचन किया जाय तो पल्लवादि को अपने से भी कोटि गुण अधिक सुख होता है।"

चैतन्यदेव—"इसमें और कामप्रेम में क्या अन्तर है?"

रामानन्द--"अपने प्रति प्रीति की इच्छा को काम कहते हैं और कृष्ण के प्रति प्रीति की इच्छा को प्रेम कहते हैं।...गोपियों का प्रेम सहज है, वह प्राकृत काम नहीं है; जो काल क्रीड़ा के समान है उसी को काम की संज्ञा दी जाती है। अपने इन्द्रिय सुख के हेतु जो कुछ किया जाता है वही काम है और कृष्ण-सुख के लिए जो किया जाता है वही श्रेष्ठ गोपीभाव है। गोपियों में अपने इन्द्रिय-सुख की आकांक्षा नहीं है, वे कृष्ण को आनन्द देने के लिए ही उनके साथ मिलन और विहार करती हैं।...प्रेम-भक्ति की साधना में सिद्ध हो गये साधक की इस देह में आत्मबुद्धि नहीं रह जाती। वह अपने भावानुसार प्राप्त चिन्मय शरीर में भगवद्-आनन्द का उपभोग करता है। जिसे देह की स्मृति नहीं, उसके लिए काम-कूप का अस्तित्व ही कहाँ है? ईश्वरेच्छा से उसके जीवन धारण के लिए आवश्यक आहार निद्रा आदि शारीरिक व्यवहार कुम्भार के चाक के समान पूर्वाभ्यास से चलता रहता है।"

चैतन्यदेव--"इस प्रकार भाव में तन्मय होकर भजन करने से, लगता है कि शास्त्रविधि के अनुसार नित्य नैमित्तिक कर्म उपासना आदि करना सम्भव नहीं रह जाएगा।"

रामानन्द--"उस गोपी-भावामृत के लिए जिसका हृदय लुब्ध होता है, वह वेदविहित धर्म को भी त्यागकर कृष्ण को भजता है। जो व्यक्ति इस रागानुगामार्ग से उनका भजन करता है, वही व्रज में व्रजेन्द्रनन्दन को प्राप्त करता है।"*

* श्री चैतन्यचरितामृत।

प्रेमिक शिरोमणि राय रामानन्द ने भक्तिविगलित चित्त और गदगद वाणी में राधाकृष्णतत्त्व तथा उसकी उपलब्धि के उपाय का वर्णन किया। सुनते सुनते चैतन्यदेव के अन्तर का भावसमुद्र आलोड़ित होने लगा, मन अन्तर्मुखी हो गया और शरीर में विविध प्रकार के सात्त्विक विकार प्रकट होने लगे। उनका वह सब अद्भुत भाव देखकर राय अत्यन्त विस्मित हुए। थोड़ी देर बाद चैतन्यदेव ने भावसंवरण किया तथा और भी उच्चतत्त्व—गहनतम प्रेम के बारे में सुनने की आशा में बोले, "यह भी हुआ, अब और आगे का कहो।"

इसके ऊपर भी क्या कोई सुनने को इच्छुक हो सकता है? तब तक ऐसा अधिकारी राय के देखने में नहीं आया था, अतः चैतन्यदेव के प्रश्न पर वे चमत्कृत होकर बोले, "इसके परे मेरी बुद्धि की गति नहीं है। जहाँ प्रेमविलास और विवर्त एक हो जाता है वहीं तक मैं जानता हूँ, परन्तु पता नहीं उतने से तुम्हें सन्तोष होगा या नहीं।" इतना कहकर वे 'प्रेम-भाव-विवर्त' क्या है यह समझाने के लिए एक स्वरचित पद्य सुनाने लगे। प्रभु ने स्नेहपूर्वक अपने हाथ से उनका मुख आच्छादित कर दिया। फिर वे बोले कि साध्यवस्तु का यहीं शेष है और तुम्हारी कृपा से मुझे इसकी निश्चित प्रतीति हो गयी है।

इस 'प्रेम-विलास-विवर्त' का वास्तविक अर्थ क्या है, इस विषय में काफी मतभेद है। 'चैतन्यचरितामृत' कार ने वह अवस्था समझाने के लिए अलंकारशास्त्र के सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ 'उज्ज्वलनीलमणि' से एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसमें कि प्रेमाभक्ति के लक्षण का परिचय दिया हुआ है। उक्त श्लोक का भाव यह है कि राधा-कृष्ण दोनों

का चित्त प्रेम से विगलित हो, मिश्रित हो, अभेद हो, अद्भुत रूप धारण कर, अपनी अपूर्व शोभा से त्रिभुवन को विस्मित और मोहित कर रहा है।* रामानन्द ने स्वरचित जो पद्य सुनाया था उसका भावार्थ है---प्रेम की चरम अवस्था में पुरुष-नारी देहात्मबुद्धि का अभाव हो जाता है, भेदबुद्धि का लोप हो जाता है। विवर्त शब्द का अर्थ है---एक वस्तु में दूसरे वस्तु की प्रतीति, यथा रज्जु का सर्प के रूप में अथवा सीप का चाँदी के रूप में भासित होना। यह अर्थ लेने पर 'प्रेम-विलास-विवर्त' इस उक्ति का तात्पर्य होता है---कान्ताभाव अर्थात् मधुर रस भजन के आगे की बात---प्रेमास्पद के साथ पूर्ण मिलन के फलस्वरूप नर-नारी बुद्धि का विलय और अभेद की उपलब्धि। यह अद्वय अनुभूति ही भक्ति मार्ग का चरम लक्ष्य है। यह साध्यवस्तु की सीमा है तथापि साधक के लिए प्रारम्भिक अवस्था में उपास्य-उपासक अभेदत्व भाव के अनुकूल नहीं है अतः उसकी चर्चा न करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि यह भक्ति-भजन की दृष्टि से प्रतिकूल सिद्ध हो सकता है। यह अतीव गोपनीय तत्त्व है, सम्भवतः इसी कारण चैतन्यदेव ने इसे सुनने की इच्छा नहीं व्यक्त की; अथवा चूँकि यह अवस्था मन-वाणी के अतीत है, अनुभूतिगम्य है, अतः आलोच्य नहीं है। विविध मनीषियों ने 'प्रेम-विलास-विवर्त' की विविध प्रकार से व्याख्या की है,

* राधाय भवतश्च चित्तजतुनी स्वेदैर्विलाप्य क्रमाद्-
युञ्जन्नद्रिनिकुंजकुंजरपते -- निर्धूतभेदभ्रमम्।
चित्राय स्वयमन्वरंजयदिह ब्रह्माण्डो हर्म्योदरे
भूयोभिर्नवरागहिंगुलभरैः शृंगारकारु कृती॥
—उज्ज्वलनीलमणि

तथापि पूज्यपाद 'चैतन्यचरितामृत'कार की व्याख्या को ही प्रामाणिक मानना चाहिए। क्योंकि प्रथमतः—चैतन्य-दव और रामानन्द राय के तत्त्वचर्चा विषयक इस प्रसंग का विवरण हमें 'चरितामृत'कार से ही प्राप्त होता है। द्वितीयतः—चैतन्यदेव के प्रधान अन्तरंग व मर्मसंगी स्वरूप दामोदर थे, जिनके आश्रित रघुनाथ दास थे और रघुनाथ दास के शिष्य थे कृष्णदास कविराज। रघुनाथ ने चैतन्यलीला को प्रत्यक्ष देखा था और स्वरूप दामोदर के मुख से इसका विशेष रूप से श्रवण किया था। 'चैतन्यचरितामृत'कार कविराज कृष्णदास गोस्वामी ने इन्हीं रघुनाथदास से अपने ग्रन्थ के लिए उपादान संग्रह किया था। तृतीयतः—कृष्णदास स्वयं भी एक महान पण्डित, दार्शनिक-शिरोमणि, साधननिष्ठ और अनुभूति-सम्पन्न व्यक्ति थे।

इस विषय में हमारा इतने विस्तारपूर्वक चर्चा करने का कारण यह है कि चैतन्यदेव ने अपने ही श्रीमुख से बारम्बार कहा है, "अद्वय ज्ञानतत्त्ववस्तु ही श्रीकृष्ण का स्वरूप है", अतः निश्चय ही यह अभेद उपलब्धि ही सर्वोच्च अनुभूति है, अन्तिम तत्त्व है और 'साध्यवस्तु शिरोमणि' है। तो भी यह 'अभेद' 'अद्वय' शब्द सुनते ही अनेक लोगों के मन में विस्मय और शंका का उदय होता है। अतः हमारा अनुरोध है कि अनुसन्धित्सु पाठकगण 'चैतन्य-चरितामृत' के इस अंश पर निरपेक्ष भाव से चिन्तन करें।

नमक का पुतला समुद्र की थाह लेने जाने पर जिस प्रकार समुद्र के साथ 'तदाकाराकारित' हो जाता है, उसी प्रकार भजनशील भक्त भी भगवान के पादपद्मों का आश्रय लेकर क्रमशः अग्रसर होते हुए 'अद्वय ज्ञानतत्त्व-

वस्तु' की उपलब्धि करके उससे एकीभूत हो जाता है। परन्तु भक्त इस अवस्था की चर्चा करना पसन्द नहीं करता। वह सेव्य-सेवक भाव से उन्हें पृथक् मानकर उनकी सेवा करना चाहता है। इस सेवा के आनन्द से उत्पन्न माधुर्य से ही उसका हृदय परिपूर्ण रहता है। भक्त का भाव है, 'मैं चीनी होना नहीं बल्कि चीनी खाना पसन्द करता हूँ।' यहाँ तक कि ब्रह्मविद्वरिष्ठ आचार्य शंकर तक ने इसी भाव की प्रेरणा से गाया था—

"सत्यपि भेदापगमे नाथ, तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रोहि तरंग क्वचन समुद्रो न तारंग॥"

—हे नाथ! तुम और मैं (अन्ततः) अभेद होने पर भी मैं 'तुम्हारा' ही हूँ, 'मेरे' तुम कदापि नहीं हो; क्योंकि (समुद्र और तरंग अभेद होने पर भी) समुद्र का ही तरंग होता है, तरंग का समुद्र कभी नहीं हो सकता। सम्भवतः इसी कारण भक्ति ग्रन्थों में इस पर अधिक चर्चा देखने को नहीं मिलती।

राय रामानन्द और चैतन्यदेव दोनों ही सुमधुर तत्त्वरस में इतने तन्मय हो गये कि उन्हें देश-काल का बोध विस्मृत हो गया, दीर्घ रात्रि निमेष के समान व्यतीत हो गयी। भोर होने पर उनकी एकाग्रता भंग हुई। राय ने प्रणाम करके विदा माँगी और चैतन्यदेव ने उन्हें प्रेमालिंगन कर विदा दी।

राय के अतिशय आग्रह पर चैतन्यदेव विद्यानगर में दस दिन निवास करने को राजी हुए। रामानन्द दिनभर अपने राजकीय कर्तव्य पूरा करके सन्ध्या होने के पश्चात् चैतन्यदेव से मिलने को आते और उसी समय भगवच्चर्चा आरम्भ हो जाती। इस प्रकार भक्तिशास्त्र और भजन-

मार्ग के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व पर वार्तालाप करते हुए माधुर्य-रस के आस्वादन में रात कब बीत जाती, यह उन्हें पता ही नहीं चलता था। चैतन्यदेव ने राय के मुख से जो तत्त्व की बातें सुनीं, वे उनके लिए पूर्णतः अपरिचित न थीं, क्योंकि वे पहले ही अपने जीवन में उन समस्त भावों की उपलब्धि कर चुके थे। तथापि अब उन समस्त तत्त्वों को राय के मुख से शास्त्रप्रमाणसह, सम्प्रदायक्रम से, प्राचीन आचार्य परम्परा द्वारा उपदिष्ट दार्शनिक प्रणाली के अनुसार सुसम्बद्ध रूप से सुनकर और अपने अनुभूतियों के साथ मिलाकर वे अतिशय हर्षित हुए। राय भी समझ गये कि ये संन्यासी आयु में कम होने के बावजूद भक्ति एवं ज्ञान में वरिष्ठ हैं। विशेषकर भगवच्चर्चा के दौरान चैतन्यदेव के देह में अद्भुत भावावेश तथा सात्त्विक विकारों का युगपत् समावेश देखकर उनके चित्त में अतीव विस्मय का उदय हुआ। इसके पहले कभी किसी भी मानवदेह में उन्हें इन उच्च अवस्थाओं की अभिव्यक्ति देखने को नहीं मिली थी। रामानन्द ने शास्त्रों के साथ मिलाकर देखा कि वहाँ प्रेम की पराकाष्ठा के रूप में जिन लक्षणों का वर्णन है, राधाकृष्ण-युगलमूर्ति में जो लक्षण विराजते हैं, वे समस्त 'महाभाव रसराज'* इन संन्यासी की मूर्ति में विद्यमान हैं। प्रेम में पुलकित होकर राय ने बारम्बार संन्यासी के चरणकमल अपने मस्तक पर धारण किए और भक्तिगदगद वाणी में अपनी अनुभूति बताने लगे, "प्रभो! तुम्हें देखकर पहले तो मैंने एक परिव्राजक संन्यासी सोचा था, पर अब समझ में आया कि तुम जीवों

* भक्तिशास्त्र की दार्शनिक परिभाषा के अनुसार :

श्रीराधा—महाभाव और श्रीकृष्ण—रसराज हैं।

को प्रेमभक्ति सिखाने स्वयं ही अवतीर्ण हुए हो। हम लोगों को भुलावा देने के लिए इस बार तुम अपने श्याम वर्ण को गौर वर्ण से ढँककर आये हो।"

"राधाजी की भावकान्ति को करने अंगीकार।
निज रस का आस्वादन करने लिया पुनः अवतार॥
इस जग में है कार्य तुम्हारा गूढ़, प्रेम आस्वादन।
और साथ ही किया प्रेममय तुमने सारा त्रिभुवन॥
आये हो खुद ही करने को तुम मेरा उद्धार।
तो भी करते कपट, तुम्हारा यह कैसा व्यवहार॥
तब हँसकर प्रभु ने उनको दिखलाया निज स्वरूप।
रसराज और महाभाव दोनों ही थे एकरूप॥
राय हुए आनन्दित, मूर्छित, उस स्वरूप को लख कर।
नहीं सँभाल सके अपने को गिरे वहीं धरती पर॥
प्रभु ने उनको हाथ लगाकर, लौटाया चेतन में।
संन्यासी का रूप देख फिर विमस्थ उनके मन में॥
प्रेमालिंगन प्रभु ने उनको किया, दिया आश्वासन।
तुम्हें छोड़कर और किसी को नहीं मिला यह दर्शन॥"

फिर चैतन्यदेव ने हँसते हुए कहा, "आपके समान महानुभाव को ऐसी उपलब्धि होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि शास्त्र में लिखा है कि तत्त्वदृष्टिपरायण उत्तम भक्तगण सर्वत्र ही सब कुछ भगवद्दृष्टि से देखते हैं।"

"प्रभु ने कहा, कृष्ण में है अनुराग प्रगाढ़ तुम्हारा।
निश्चय जानो प्रेमा का स्वभाव यह सबसे न्यारा॥
महाभक्त जो, जहाँ जहाँ स्थावर जंगम लखता है।
वहाँ वहाँ पर कृष्ण भाव का स्फुरण उसे होता है॥
स्थावर जंगम नहीं, दीख पड़ती उनकी ही मूरत।
सर्व जगत् में उसे दीखती इष्टदेव की सूरत॥"

देखते ही देखते दस दिवस बीत गये और चैतन्यदेव ने विदा माँगी। परन्तु राय के प्राण उन्हें किसी भी प्रकार छोड़ने को तैयार न थे। चैतन्यदेव राय को समझाते हुए बोले—"मैं दक्षिण देश के रामेश्वर आदि तीर्थों और मठ-मन्दिरों का दर्शन करने को निकला हूँ। यात्रा पूरी करने के बाद लौटकर मेरी नीलाचल में ही निवास करने की इच्छा है। उस समय यदि आप पुरी में आयें तो हम परम आनन्दपूर्वक एक साथ रहेंगे।" नेत्रों में आँसू भरे राय उनके चरणों में गिर पड़े। चैतन्यदेव ने उन्हें उठाकर प्रेमालिगन किया और विदा हुए।

(क्रमशः)

O

जैसे गाय भरपेट खा लेने के बाद निश्चिन्त रूप से एक जगह पर बैठकर जुगाली करती है, जो खाया है उसे उगलकर पुनः अच्छी तरह चबाती है; उसी प्रकार देवस्थान, तीर्थ आदि का दर्शन करके आने के बाद एकान्त में बैठकर, वहाँ पर मन में जो पवित्र भगवद्भाव उदित हुए थे, उन पर चिन्तन-मनन करना चाहिए, उन्हीं में डूब जाना चाहिए।

—श्रीरामकृष्ण

मानस-रोग (१४/१)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'श्रीरामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल मिलाकर ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलिखन उनके चौदहवें प्रवचन का पूर्वार्द्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय रायपुर में अध्यापक हैं। —स.)

रामचरितमानस में मानस रोगों का विश्लेषण करते हुए उनके निदान, औषधि और चिकित्सा-पद्धति का विशद वर्णन किया गया है। आयुर्वेद शास्त्र में ऐसी मान्यता है कि जब तक व्यक्ति के शरीर में वात, पित्त और कफ सन्तुलित रहते हैं, तब तक वह स्वस्थ रहता है। पर जब इन धातुओं में असन्तुलन उत्पन्न होता है, तब व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है। ठीक इसी प्रकार से हमारे अन्तर्मन में रहने वाले काम, क्रोध और लोभ जब तक हमारे जीवन में सन्तुलित रहते हैं तब तक हमारा मन स्वस्थ रहता है, और जब ये असन्तुलित हो जाते हैं तब हमारा मन भी अस्वस्थ हो जाता है। गोस्वामीजी कहते हैं कि अगर मनुष्य के अन्तःकरण में काम, क्रोध, लोभ—इन तीनों में से कोई एक भी विकृत हो जाए तो मनुष्य अस्वस्थ हो जाता है। तब उसे चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है। लेकिन जब व्यक्ति के मन में ये तीनों एक साथ ही असन्तुलित हो जाएँ, तो जैसे शरीर के सन्दर्भ में त्रिधातु के कुपित होने पर व्यक्ति को सन्निपात हो जाता है, इसी तरह मन

को भी सन्निपात हो जाता है। और इस मानसिक सन्निपात के सन्दर्भ में अयोध्या की मनःस्थिति क्या है। गोस्वामीजी एक तुलनात्मक चित्र प्रस्तुत करते हैं। एक ओर लंका है और दूसरी ओर अयोध्या। लंका को हम पाप की नगरी के रूप में देखते हैं और अयोध्या को पुण्य की नगरी के रूप में। वैसे अगर शाश्वत दृष्टि से देखा जाय तो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में ही किसी का हृदय अयोध्या के समान होता है तो किसी का लंका के समान। जहाँ हृदय लंका के समान होता है वहाँ स्वाभाविक रूप से असन्तुलन का ही राज्य होता है। वहाँ काम, क्रोध, लोभ की वृत्तियाँ ही राज्य करती हैं। लेकिन अयोध्या जैसे हृदय में भी यह असन्तुलन उत्पन्न होता है। बुरे व्यक्ति के हृदय में तो काम क्रोध लोभ निरन्तर सक्रिय रहते ही हैं पर भले कहे जानेवाले व्यक्ति के जीवन में भी इनके उद्भव की सम्भावना है। जब व्यक्ति के जीवन में इन दुर्गुणों का उद्भव होता है तब उसका क्या परिणाम होता है? जब मन्थरा के द्वारा कैकेयीजी के अन्तःकरण में क्रोध और लोभ की विकृति उत्पन्न की जाती है और महाराज दशरथ काम की वृत्ति लेकर कैकेयी के भवन में जाते हैं, तब इन त्रिदोषों के उदय के परिणामस्वरूप तीन वस्तुएँ जीवन से दूर चली जाती हैं। दोनों ओर तीन-तीन हैं। जब काम, क्रोध, लोभ हमारे जीवन में आते हैं तो भगवान श्री राम, सीताजी और लक्ष्मण जीवन से दूर चले जाते हैं। भगवान श्री राम, सीताजी और लक्ष्मण का एक रूप तो ऐतिहासिक है और दूसरा रूप है आध्यात्मिक। उनका यह आध्यात्मिक रूप क्या है? जब भगवान राम चित्रकूट में निवास करते हैं तो गोस्वामीजी वर्णन करते हुए लिखते हैं कि भगवान

श्री राम, सीताजी और लक्ष्मण चित्रकूट में निवास करते हुए कैसे लग रहे हैं---

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर ।।२/३२१

---श्री राम मानो मूर्तिमान ज्ञान है। जनकनन्दिनी श्री सीता मूर्तिमती भक्ति हैं और लक्ष्मण मूर्तिमान वैराग्य हैं। तो उन तीनों (काम, क्रोध, लोभ) के आने पर इन तीनों (श्री राम, श्री सीता, लक्ष्मण) का दूर चले जाना सर्वथा मनोवैज्ञानिक है। जब क्रोध आवेगा तो जीवन से ज्ञान दूर चला जावेगा अर्थात् श्री राम दूर चले जायेंगे। और जब काम आयेगा तो जीवन से भक्ति दूर चली जावेगी अर्थात् श्री सीताजी दूर चली जायेंगी। और जब जीवन में लोभ आवेगा तो वैराग्य दूर चला जावेगा अर्थात् धनीभूत वैराग्य लक्ष्मणजी दूर चले जायेंगे। व्यक्ति के जीवन में अगर काम, क्रोध, लोभ होगा तो उसका अन्तः-करण ज्ञान, भक्ति, वैराग्य से शून्य होगा। ज्ञान का मुख्य सम्बन्ध अद्वैत से है। रामचरितमानस के उत्तर काण्ड में यह संकेत किया गया है कि क्रोध तो बिना द्वैत के आता नहीं और अगर किसी व्यक्ति के अन्तःकरण में द्वैत बना हुआ है, तो इसका अर्थ यही है कि उसके अन्तःकरण में अज्ञान है--

क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अग्यान।७/१११ख

श्री राम हैं अखण्ड अद्वैत ज्ञानघन और जिसके अन्तःकरण में द्वैत की वृत्ति उत्पन्न हुई तो यही भेदवृत्ति श्री राम के दूर होने का कारण है। जब तक कैकेयी के अन्तःकरण में श्री राम और श्री भरत में भेदवृत्ति नहीं थी, तब तक श्री राम और श्री भरत उन्हें प्राप्त थे। लेकिन ज्योंही

श्री राम और श्री भरत में भेद बुद्धि उत्पन्न हुई तो परिणामस्वरूप उनके अन्तःकरण में क्रोध उत्पन्न हुआ जिसके फलस्वरूप उनमें यह वृत्ति आ गई कि श्री राम यहाँ से जितनी जल्दी चले जायँ, उतना ही अच्छा। कैकेयी ने महाराज दशरथ से जो दो वरदान माँगे उनका क्रम इस प्रकार था : पहला—राज्य भरत को दिया जाय और दूसरा—श्री राम चौदह वर्ष के लिए वन में निवास करें।

देहु एक बर भरतहि टीका। २।२८।१
तापस बेष बिसेषि उदासी।
चौदह बरिस रामु बनवासी ॥२।२८।३

—तो वरदान तो इस क्रम से माँगा गया था कि पहले भरत का राज्याभिषेक हो और बाद में राम का वनवास। भरत को राज्य अर्थात् अपने पुत्र को सुख और राम को वनवास यानी जिसे वे पराया मानती हैं उसे दुख मिले। लेकिन उनमें इतना तीव्र आक्रोश है कि वे कह देती हैं कि भरत को राज्य मिलने में कुछ विलम्ब हो जाय तो मुझे सह्य है, पर राम के वनवास में अगर विलम्ब हुआ तो मैं नहीं सह सकती। यह है क्रोध की प्रतिक्रिया। इसका अभिप्राय यह है कि हमें सुख मिलने में चाहे देर लगे पर दूसरों को दुख मिलने में देर बिलकुल न हो। महाराज श्री दशरथ को धमकी देते हुए कैकेयी कहती है—

होत प्रातु मुनिबेष धरि जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिय मन माहिं
॥२।३३॥

—कल प्रातःकाल होते ही राम मुनियों का वेश धारण कर अगर वन को नहीं चले जाते हैं तो आप जानते हैं कि इसका क्या परिणाम होगा ? क्या ? 'मोर मरनु'—मेरी मृत्यु। कैकेयीजी ने दो ही वरदान तो माँगे थे। इस समय महाराज दशरथ कह सकते थे कि आपने यह वरदान तो नहीं माँगा था कि कल ही ऐसा हो। तो वे कहती कि नहीं वे दो वरदान तो मैंने माँगे थे और आपने दिये भी पर तीसरे के लिए तो मैं प्राण की बाजी लगा दूँगी। महाराज दशरथ ने कैकेयी की ओर बड़ी दयनीय दृष्टि से देखा और उनकी दृष्टि में यही संकेत था कि अगर तुम राम को वनवास दोगी तो मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है। पर कैकेयी का हृदय कितना कठोर हो गया। किसी भी पत्नी के लिए उसका पति ही सर्वस्व होता है। प्रत्येक पत्नी के मन में यही अभिलाषा रहती है कि वह सौभाग्यवती के रूप में ही शरीर-त्याग करे। और इसीलिए महाराज दशरथ ने सोचा कि मेरी मृत्यु की बात सुनकर सम्भव है कि कैकेयी वरदान वापस ले ले। लेकिन कैकेयी महाराज श्री दशरथ के इस भावना का उल्लंघन करके बोलीं कि महाराज यदि राम के वन जाने से आपकी मृत्यु होगी तो उसके कल प्रातः ही वन न जाने से मेरी मृत्यु होगी। महाराज दशरथ पूछ सकते हैं कि अच्छा तो तुम किसकी मृत्यु चाहती हो ? कैकेयी ने कह दिया—

मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं ।।

—मेरा मरना ठीक नहीं। क्यों ? वे बोलीं—मैं मर जाऊँगी तो आपको अपयश मिलेगा। इसका संकेत यह है कि आप मर जायेंगे तो आपको कीर्ति मिलेगी कि

सत्य की रक्षा के लिए आपने इतना बड़ा बलिदान कर दिया। और मैं तो यही चाहती हूं कि आपका शरीर रहे चाहे न रहे, पर आपकी कीर्ति बनी रहे। कैकेयी के अन्तःकरण में निष्ठुरता की यह पराकाष्ठा आ जाती है। इतनी तीव्रतम आक्रोश की वृत्ति आ जाती है कि वे राम को एक क्षण के लिए भी अपने सामने देखने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। आगे चलकर श्री जानकीजी और श्री लक्ष्मण भी श्री राम के साथ वन जाने के लिए व्यग्र हो जाते हैं। श्री राम जाएंगे तो सीता और लक्ष्मण भी साथ जायेंगे ही। ज्ञान ही नहीं रहेगा तो न भक्ति ही रहेगी और न वैराग्य ही। जब रहेंगे तो तीनों साथ ही रहेंगे। उस समय कुछ लोग सीताजी और लक्ष्मणजी से कहने लगे कि आप लोग मत जाइए। यह सुनकर कैकेयी की मनःस्थिति क्या है ?

सो मुनि तमकि उठी कैकेयी ।।२।७८।१

उनमें क्रोध की तीव्रतम अभिव्यक्ति हुई। क्रोध में भरी हुई कैकेयी तमक उठीं, और क्या किया—

मुनि पट भूषण भाजन आनी।
आगे धरि बोली मृदु बानी ।।२।७८।२

—मुनियों के योग्य वस्त्र, कमण्डलु आदि वस्तुएँ लाकर कैकेयी श्रीराम के सामने रख देती हैं और उनसे कहती हैं कि राम, ये लोग तुम्हारे हितैषी नहीं हैं। लोभ की वृत्ति में जो दम्भ की प्रकृति निहित रहती है, वह कैकेयी की भाषा में विद्यमान है। दम्भ का अर्थ है कि मन में कुछ और है और दिखाया कुछ और ही जा रहा है। कैकेयी राम का हितैषी होने का दिखावा करती हैं। वे कहती हैं— भोग से त्याग-तपस्या श्रेष्ठ है। मैं तुम्हें तपस्या का अवसर

दे रही हूँ, पर ये लोग तुम्हारे मार्ग में बाधा उत्पन्न कर रहे हैं, इसलिए तुम जितना शीघ्र हो सके, यहाँ से चले जाओ। और——

नृपहि प्रानप्रिय तुम्ह रघुबीरा ।
सील सनेह न छाड़िहि भीरा ।।

सुकृतु सुजसु परलोकु नसाऊ ।
तुम्हहि जान बन कहिहि न काऊ ।।२/७८/३-४

और कैकेयीजी का यह तीव्र आक्रोश तब तक शान्त नहीं होता जब तक श्री राम वन नहीं चले जाते। इसका अभिप्राय यह है कि एक बार जहाँ इस क्रोध की, द्वैत की, भेद की वृत्ति आती है, उस समय व्यक्ति के अन्तःकरण से ज्ञान दूर चला जाता है। उस समय राम भी प्रिय नहीं लगते, ईश्वर भी अप्रिय लगता है। जो अभिन्न आत्म-स्वरूप है, इसमें भी भेद प्रतीत होने लगता है। और यही कैकेयी के जीवन में हुआ। इसी प्रकार जब काम की वृत्ति आती है तो उसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि व्यक्ति के अन्तःकरण से भक्ति दूर चली जाती है। महाराज दशरथ के चरित्र में कमी क्या थी? जब वे कैकेयी के पास आये तो उन्हें प्रसन्न करने के लिए जो वाक्य उन्होंने कहा वह भक्ति से शून्य बना देने वाला है। वह वाक्य क्या था? उन्होंने कहा —

जानसि मोर सुभाउ बरोरू ।
मनु तव आनन चंद चकोरू ।।२/२५/४

—कैकेयी तुम तो जानती हो कि तुम्हारा मुख चन्द्रमा है और मैं चकोर हूँ। भक्त का लक्षण बताते हुए विनय पत्रिका में तुलसीदासजी भगवान् राम से कहते हैं कि

मैं चकोर बनना चाहता हूँ। लेकिन चकोर किस चन्द्रमा का बनना चाहते हैं ?

रामचन्द्र चन्द्र तू चकोर मोहि कीजिये ।

—हे राम, चन्द्र तो आप हैं ही मुझे चकोर बना लीजिए। तो भक्त तो वह है जिसकी दृष्टि निरन्तर श्री रामचन्द्र के मुख पर लगी हुई है। महाराज श्री दशरथ भी श्री राम-चन्द्र-मुखचन्द्र के चकोर हैं, लेकिन इसके साथ ही साथ जब उनके अन्त:करण में कैकेयी का मुखचन्द्र आता है तो वह भी उन्हें आकर्षित कर लेता है। इसका अभिप्राय यह है कि वे चाहे कितने भी बड़े भक्त क्यों न रहे हों, लेकिन उस समय उनका जो व्यवहार है, वह भक्ति से शून्य है। व्यक्ति के जीवन में जब भी ऐसी स्थिति आती है तब भक्तिरूपी सीता उसके जीवन से दूर चली जाती है। यह स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार लोभ की तीव्र प्रवृत्ति आने पर वैराग्य जीवन से दूर चला जाता है। इस सन्दर्भ में अगर विचार करके देखें तो गोस्वामीजी ने संकेत के रूप में मन्थरा को इन तीनों रूपों में प्रस्तुत किया है। मन्थरा की भूमिका क्या है ? मन्थरा कैकेयी के अन्त:करण में भेदबुद्धि उत्पन्न करके ज्ञान को जीवन से दूर कर देती है। मन्थरा कैकेयी के अन्त:करण में राम के प्रति संशय उत्पन्न कर देती है। संशयात्मिका वृत्ति भक्ति की विरोधी है।

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु ।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु ॥६/९०/क

—एक तो मन्थरा ने कैकेयीजी के मस्तिष्क में इस घातक वृत्ति को पैदा दिया कि राम तुम्हारे अपने नहीं हैं, भरत तुम्हारे अपने हैं। और भक्ति की दृष्टि से भक्त को

जब तक भगवान् के प्रत्येक क्रियाकलाप में गुण और शील दिखाई देगा, तथा उनके गुणों पर हमें विश्वास रहेगा, तभी तक हमारे जीवन में भक्ति रहेगी । पर मन्थरा ने कैकेयी के अन्तःकरण में संशय उत्पन्न कर दिया कि पहले तो राम तुमसे प्रेम करते थे पर अब बिलकुल नहीं करते । अब तो वे सिंहासन पर बैठते ही भरत को कारागार में डाल देंगे । तुम्हें सौत की सेवा करनी पड़ेगी । कैकेयी के अन्तःकरण में राम के शील के प्रति संशय उत्पन्न हो गया, भक्ति विरोधी वृत्ति उत्पन्न हो गई । और जब उनमें राज्य का लोभ उत्पन्न कर दिया गया तो मानों वैराग्य-विरोधी-वृत्ति की उत्पत्ति हो गयी । यही संकेत आपको अरण्यकाण्ड में भी मिलेगा । इसके प्रतिकूल वह दूसरा प्रसंग है । गोस्वामीजी इसी चित्र को वहाँ तुलनात्मक रूप से प्रस्तुत करते हैं । वहाँ ज्ञान, भक्ति, वैराग्य - तीनों संकट में दिखाई दे रहे हैं । अयोध्याकाण्ड मे तो इनको केवल वन भेज दिया गया, पर अरण्यकाण्ड में क्या दिखायी दे रहा है ? भगवान राम रुदन कर रहे हैं । श्री सीताजी लंका में बन्दिनी हैं । और एक ऐसा भी अवसर आता है कि जब लंका में लक्ष्मणजी भी मूर्छित हैं । इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की स्थिति अयोध्या की अपेक्षा दण्डकारण्य में और भी अधिक संकटापन्न है । वहाँ पर भी ये तीनों वृत्तियाँ आती हैं और एकीकृत हो जाती हैं । ज्ञान, भक्ति, वैराग्य जीवन से दूर चले जाते हैं । गोस्वामीजी ने इस सन्दर्भ को इस क्रम में बाँध दिया कि लक्ष्मणजी ने भगवान राम से कुछ प्रश्न किए । और वे प्रश्न ऐसे थे जो जीवन में उठने वाले समस्त प्रश्नों को अपने भीतर समेटे हुए थे । लक्ष्मण जी पूछते हैं—

कहहु ग्यान बिराग अरु माया ।
कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया ।।३/१३/८
ईश्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ ।।३/१४

——ब्रह्म क्या है, जीव क्या है, माया क्या है, ज्ञान क्या है, वैराग्य क्या है, भक्ति क्या है ? जब लक्ष्मणजी ने ने एक साथ इतने प्रश्न रख दिये तो भगवान राम ने कहा——

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई ।३/१४/१

——लक्ष्मण, मैं थोड़े में ही सब कह रहा हूँ । लक्ष्मण को बड़ा आश्चर्य हुआ । प्रश्न मेरा इतना विस्तृत और उत्तर संक्षेप में क्यों ? भगवान राम का तात्पर्य था कि लक्ष्मण ! भाषण दूंगा संक्षेप में और दिखलाऊँगा विस्तार में । अभिप्राय यह है कि आगे चलकर जितनी घटनाएँ होती हैं वे सब मानों लक्ष्मण जी के प्रश्नों के ही उत्तर के लिए हैं । लक्ष्मणजी जिस ज्ञान, वैराग्य, माया और भक्ति का लक्षण जानना चाहते थे उसे भगवान श्री राघवेन्द्र ने शब्दों के द्वारा तो संक्षेप में कहा पर बाद में प्रत्यक्ष दिखा दिया । सूर्पणखा जब भगवान् के पास आई तो उन्होंने उसे लक्ष्मण के पास भेज दिया । लक्ष्मणजी ने भगवान से पूछा था कि माया का लक्षण क्या है । तो मानो भगवान राम का यह संकेत था कि लो, माया को प्रत्यक्ष भेज रहा हूँ, सुनकर शायद उतना नहीं समझ पाते जितना प्रत्यक्ष देखकर समझ सकोगे । यह प्रत्यक्ष अविद्या माया है । इसलिए अविद्या माया और सूर्पणखा, दोनों के लिए एक ही विशेषण का प्रयोग किया गया——

विद्या अपर अविद्या दोऊ ।।
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा ।
जा बस जीव परा भव कूपा ।।३/१४/४-५

और सूपनखा रावन कै बहिनी ।
दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी ।।३/१६/३

—यह दुष्ट शब्द माया और सूर्पणखा, दोनों के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। यह सूर्पणखा मूर्तिमती अविद्या माया है। जब वह भगवान् राम के पास आती है, तब काम, क्रोध और लोभ की वृत्ति को लेकर आती है। यहाँ पर गोस्वामीजी सूर्पणखा के सन्दर्भ में एक सुन्दर संकेत देते हैं। वे इसका परिचय क्या देते हैं? अगर ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से देखें तो सूर्पणखा का परिचय दिया जाना चाहिए कि ये विश्रवामुनि की बेटी हैं। पर गोस्वामीजी ने कहा कि आध्यात्मिक दृष्टि से तो यह कहना ठीक नहीं है। विश्रवा तो मुनि हैं और मुनि का अर्थ है मननशील। तो क्या मननशील मुनि का तात्पर्य यही है कि वह अपने अन्तःकरण में इस अविद्यामाया या वासना को जन्म दे? नहीं मननशील माया को जन्म नहीं देगा। तब उन्होंने माया के साथ मोह के सम्बन्ध को अनोखे ढंग से प्रस्तुत कर दिया—

सूपनखा रावन कै बहिनी ।

—सूर्पणखा कौन है? रावण की बहन। मोह की बहन माया। और यह माया पहले तो सुन्दर रूप बनाकर, काम का आकर्षण लेकर आती है और भगवान राम से विवाह का प्रस्ताव करती है। कहती है—

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी ।

यह सँजोग बिधि रचा बिचारी ।।३/१६/८
—न तो तुम्हारे समान कोई सुन्दर पुरुष है और न मेरे समान कोई सुन्दर नारी । तो भगवान तो यह सुनने के बहुत अभ्यस्त थे कि आपके समान कोई सुन्दर नहीं है, पर यह भाषा तो उन्हें पहली बार सुनने को मिली कि मेरे समान कोई सुन्दरी नहीं है । और तब भगवान राम ने किसकी ओर देखा ? काम के आकर्षण से बचने का उपाय क्या है ? माया के द्वारा अगर काम की सृष्टि की गई हो तो उस काम से बचने का उपाय भगवान राम ने बता दिया । काम से बचने का उपाय है—सीतहि चितइ । भगवान् राम ने सूर्पणखा की ओर देखा ही नहीं । तो देखा किसकी ओर ?

सीतहि चितइ कही प्रभु बाता ।
—श्री सीताजी की ओर देखा । इसका तात्पर्य यह है कि काम और वासना के आकर्षण से छुटकारा पाना हो तो भक्ति की ओर दृष्टि कर लें । जब दृष्टि भक्ति की ओर चली जायगी तब वासना का आकर्षण दिखाई नहीं देगा । तो एक ओर तो भगवान ने यह दिखा दिया कि भक्ति का आश्रय लेने पर काम-वासना का प्रभाव नहीं पड़ता । और लक्ष्मणजी ने पूछा था कि वैराग्य क्या है ? तो उसके पश्चात् भगवान राम ने कहा कि जो माया के आकर्षण में न फँसे वही वैराग्य है । भगवान जानते थे कि लक्ष्मण मूर्तिमान वैराग्य हैं । इसलिए माया को उन्हीं के पास भेज दिया सूर्पणखा से कह दिया—

अहइ कुआर मोर लघु भ्राता ।।३/१६/११
—मेरा छोटा भाई कुमार है । वहाँ तुम चेष्टा करके देखो । सूर्पणखा लक्ष्मणजी के पास जाकर पुनः वही

प्रस्ताव रखती है। कहती है---तुम्हारे बड़े भाई ने मुझे तुम्हारे पास भेजा है और मुझे पता चला है कि तुम कुमार हो। तुम मेरे विवाह के प्रस्ताव को स्वीकार करो। लक्ष्मण चाहते तो अस्वीकार कर सकते थे, पर वे तो भगवान श्री राम की बात को काटना नहीं चाहते थे। और उन्होंने इसके उत्तर में सबसे पहला कार्य यह किया कि 'प्रभु बिलोकि' भगवान की ओर देखा। वैराग्य सुदृढ़ कब रहेगा ? 'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु'---ज्ञान और वैराग्य परस्पर पूरक है। न ज्ञान के बिना वैराग्य सुरक्षित है और न वैराग्य के बिना ज्ञान। इसलिए सबसे पहले लक्ष्मणजी की दृष्टि भगवान की ओर गई। वैराग्य की दृष्टि ज्ञान की ओर गई। वैराग्य वही है जो एक क्षण के लिए भी ज्ञान से विचलित नहीं होता। जो सदा ज्ञान में स्थिर है, वही सच्चा वैराग्यवान है। तो लक्ष्मणजी की दृष्टि चली गई श्री राम की ओर और उन्हीं पर उनकी दृष्टि स्थिर हो गई। वार्तालाप तो कर रहे हैं सूर्पणखा से कि हे सुन्दरी, श्री राम ने तुम से व्यंग-विनोद ही किया होगा, मैं तो उनका दास हूँ। सूर्पणखा इस उपेक्षा से क्रोधित हो उठी कि इधर तो सुन्दरी भी कह रहा है पर देख बिलकुल नहीं रहा है। पहले तो वह काम की सृष्टि करती है, आकर्षित करने के लिए सुन्दर बनकर आती है। माया अर्थात् जो वास्तविक नहीं है। जैसा है वैसा न दिखाई देकर भिन्न दिखाई दे। सुर्पणखा सुन्दर रूप बनाकर आती है, वह उसका वास्तविक रूप नहीं है---नकली है। और यह भेद तब खुलता है जब वह श्री राम और लक्ष्मण के बीच जा पहुँचती है। माया की वास्तविकता तब प्रगट होती है जब वह ज्ञान और वैराग्य के बीच पहुँच जाती

है। तो सूर्पणखा अभी अपने माया के विस्तार में लगी है। काम का प्रदर्शन करती है, क्रोध का प्रदर्शन करती है और लोभ का प्रलोभन दिखाती है। भगवान राम से कहती है कि मैं विश्वविजेता रावण की बहन हूँ। मुझसे विवाह करके तुम्हें बहुत लाभ होगा। सूर्पणखा का यह वाक्य तो आज भी कई लोगों को बड़ा पसन्द आता है। एक लेखक ने तो लिखा है कि राम अगर बुद्धिमान होते तो अवश्य ही सूर्पणखा से विवाह कर लेते। उससे दो राष्ट्रों का मैत्री सम्बन्ध हो जाता। लंका और भारत एक दूसरे के निकट आ जाते। तो सूर्पणखा प्रलोभन की भी सृष्टि करती है। पर भगवान् राम को न तो सूर्पणखा का सौन्दर्य ही आकृष्ट कर पाता है और न लंका के वैभव का प्रलोभन ही। तब वह अपनी तीसरी वृत्ति को प्रकट करती है। वही क्रम—'कामात्क्रोधोभिजायते' सूर्पणखा के अन्तर्मन में तीव्रतम काम-वासना थी और उस वासना का परिणाम यह हुआ कि उसके मन में तीव्रतम क्रोध का उदय हुआ और वह अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो गई---'रूप भयंकर प्रगटत भई।' काम और प्रलोभन तो आकर्षक होता है पर क्रोध भयावह होता है। सुन्दर से सुन्दर व्यक्ति भी जब क्रोधित होता है तो उसकी आकृति बड़ी भयानक हो जाती है। क्रोध में भरी हुई सूर्पणखा अपने भयंकर रूप में प्रगट हो गई और श्री सीताजी को ही अपनी कामना पूर्ति के मार्ग की मूल बाधा समझकर उनको खाने दौड़ी। और तब भगवान राम तुरन्त लक्ष्मणजी को संकेत करते हुए कहते हैं कि अब तुम्हें भक्ति की रक्षा करनी है। तो वैराग्य की दो भूमिकाएँ हैं, एक तो यह कि वह ज्ञान का सदा सहचर है

और इसके साथ ही साथ वह भक्ति का संरक्षक भी है। तो भक्ति पर जब विपत्ति आई तो भगवान राम ने मूर्तिमान वैराग्य लक्ष्मण को भक्ति की रक्षा का आदेश दिया।

यह सूर्पणखा कौन है? सूर्पणखा शब्द का अर्थ है– सूप के समान नाखून वाली। जिसके नाखून सूप के समान हो वह सूर्पणखा है। वैसे तो शरीर में जितने अंग हैं उन्हें सुरक्षित रखना चाहिए, लेकिन उनमें से एक ऐसा भी है, जिसे काटते रहना चाहिए। और वह क्या है? नाखून। वह जरा सा भी बढ़ जाय तो कैंची लेकर उसे काट देना चाहिए। शरीर और अंगुली सुरक्षित तभी रहेंगे, जब इस नाखून को काटते रहेंगे। और मन के सन्दर्भ में नाखून क्या है? यह जो मन की वासना है, यही नाखून है। और इस वासना को विचार की कैंची से जो काटता रहेगा, वह व्यक्ति जीवन में सुरक्षित रहेगा। लेकिन जो अपने नाखून न कटावे, सूर्पणखा बन जाय तो उसका परिणाम क्या होगा? यह होगा कि उसके नाक-कान दोनों कट जाते हैं। और इसका अभिप्राय यह है कि जो अपने जीवन में वासना को नहीं काटता रहेगा, अन्त में वह अनादृत होगा। भगवान का संकेत पाकर लक्ष्मणजी ने सूर्पणखा पर प्रहार किया और उसकी कुरूपता प्रकट हो गई। इस प्रकार लंका के काम-क्रोध-लोभ तीनों से मुक्त होकर भगवान राम, सीताजी और लक्ष्मण सुरक्षित हैं। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि इतने मात्र से ही सारी बुराई समाप्त हो गयी। बुराइयों का भी बड़ा विस्तार है। सूर्पणखा का बड़ा विस्तृत परिवार है– 'यह सब माया कर परिवारा।' वह अभी हार नहीं मानती, अपने भाई खर और दूषण के पास जाती है। (क्रमशः)

सुभाषचन्द्र बोस के प्रेरणा-पुरुष : श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द (६)

स्वामी विदेहात्मानन्द

१३ फरवरी १९३३ ई. को अंग्रेज सरकार ने उन्हें बन्दी अवस्था में ही भारत से निर्वासित किया। इस काल में उन्होंने यूरोप के आस्ट्रिया, जर्मनी आदि कई देशों का दौरा किया। इसी काल में उन्होंने अपना सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'Indian Struggle' (भारत का स्वाधीनता संघर्ष) लिखा, जिसमें उन्होंने भारतीय स्वाधीनता संग्राम के १९२० से १९३४ तक के काल का इतिहास प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ की प्रस्तावना में सुभाषबाबू ने आधुनिक भारत के निर्माण में श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द की भूमिका का बड़ा ही भावपूर्ण चित्रण किया है। वे लिखते हैं— "...पिछली शताब्दी के ८० वाले दशक में भारत में दो धार्मिक महापुरुषों का उदय हुआ जिनका देश के नव-जागरण की धारा पर विशेष प्रभाव पड़ा। वे थे श्रीराम-कृष्ण परमहंस और उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द। गुरु रामकृष्ण तो सनातनी हिन्दू की तरह पले-बढ़े थे, पर उनके शिष्य विश्वविद्यालय के शिक्षाप्राप्त युवक थे और अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस से मिलने से पहले नास्तिक थे। रामकृष्ण परमहंस ने सभी धर्मों की मूलभूत एकता का और धर्मों-कर्मों के आपसी विद्वेष की समाप्ति का उपदेश किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि सच्चे आध्यात्मिक जीवन का मार्ग है त्याग, ब्रह्मचर्य और अना-सक्ति। उन्होंने ब्रह्मसमाज की अत्याधुनिकता की नकल की प्रवृत्ति का विरोध किया और ईश्वर की आराधना के लिए प्रतीक रूप में मूर्तिपूजा का समर्थन किया। अपने

स्वर्गवास के पहले उन्होंने अपने शिष्य को अपने धार्मिक उपदेशों का भारत और विश्वभर में प्रचार करने का गुरुभार सौंप दिया था। तदनुसार स्वामी विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, जो एक प्रकार का संघ था। इसके साधु पूर्णतः हिन्दू जीवन जीकर देश और विदेश में, खासकर अमेरिका में, विशुद्ध हिन्दू धर्म का प्रचार करते हैं। स्वामीजी राष्ट्र में हर प्रकार के स्वस्थ क्रिया-कलापों के प्रेरणास्रोत रहे, उनके लिए धर्म राष्ट्रवाद का प्रेरक था। उन्होंने भारत की नवसंतति में अपने अतीत के प्रति गर्व, भविष्य के प्रति विश्वास और स्वयं में आत्मविश्वास तथा आत्मसम्मान की भावना फूँकने का यत्न किया। यद्यपि स्वामी विवेकानन्द ने कोई राजनीतिक विचार या संदेश नहीं दिया, तथापि हर व्यक्ति जो उनके सम्पर्क में आया या जिसने उनके लेखों को पढ़ा वह देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत हो गया और स्वतः ही उसमें राजनीतिक चेतना पैदा हो गई। कम से कम जहाँ तक बंगाल का प्रश्न है, स्वामी विवेकानन्द को वहाँ के आधुनिक राष्ट्रवादी आन्दोलन का जनक माना जा सकता है। यद्यपि उनका देहावसान बहुत जल्दी १९०२ ई. में ही हो गया लेकिन उनका प्रभाव उनकी मृत्यु के बाद और अधिक बढ़ गया।"*

उपरोक्त पंक्तियों के अवलोकन से हमें थोड़ा अनुमान हो जाता है कि सुभाषबाबू श्रीरामकृष्ण, विवेकानन्द तथा उनके द्वारा स्थापित संघ को किस दृष्टि से देखते थे। १९३६ ई. श्रीरामकृष्णदेव की जन्म-शताब्दी का वर्ष था। सम्पूर्ण भारत तथा विश्व के अनेक स्थानों में इस

* नेताजी सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड 2, पृ. XX

पुनीत अवसर पर भव्य समारोह हुए। इसी अवसर पर रामकृष्ण मठ के बंगला मुखपत्र 'उद्बोधन' के सम्पादक स्वामी सुन्दरानन्दजी ने नेताजी से श्रीरामकृष्ण विषयक एक लेख लिख देने का अनुरोध किया। इस पत्र के उत्तर में सुभाषबाबू ने ६ मार्च १९३६ ई. को लिखा--

"परमश्रद्धेय स्वामीजी,

आपका २ दिसम्बर का पत्र मुझे यथासमय प्राप्त हो गया था, परन्तु विविध कारणों से तत्काल उत्तर नहीं दे सका। आपने जिस लेख की बाबत लिखा है, उसे मैं प्रमुखतः दो कारणों से नहीं लिख सका। प्रथमतः तो श्रीरामकृष्ण के विषय में कुछ लिखने का मुझे साहस नहीं होता और द्वितीयतः पिछले दो-तीन महीनों से मैं निरन्तर भ्रमण करता रहा हूँ और एक जगह स्थिर होकर नहीं बैठ सका। तथापि आपने जो मेरा स्मरण किया है, उसके लिए मैं आपके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के प्रति मैं कितना ऋणी हूँ--यह शब्दों में लिखकर भला मैं कैसे व्यक्त कर सकता हूँ? उन्हीं के पुण्य प्रभाव से मेरे जीवन में चेतना का प्रथम प्रादुर्भाव हुआ था। निवेदिता के समान ही मेरा भी विश्वास है कि रामकृष्ण और विवेकानन्द एक ही अखण्ड व्यक्तित्व के दो रूप हैं। आज यदि स्वामीजी जीवित होते तो निश्चय ही वे मेरे गुरु होते--अर्थात् मैंने अवश्य ही उनको गुरु के रूप में वरण कर लिया होता। अस्तु। कहना न होगा कि मैं जब तक जीवित रहूँगा, 'रामकृष्ण-विवेकानन्द' का अनन्य अनुगत तथा अनुरागी बना रहूँगा।"*

* उद्बोधन (बंगला) मासिक, आश्विन १३५४ (बंगीय) पृ. ४५९।

८ अप्रैल १९३६ ई. को सुभाषबाबू भारत लौटे। बम्बई में अपार जनता उनका स्वागत करने को एकत्र हुई थी। परन्तु जलयान से उतरते ही उन्हें सरकारी आदेशानुसार गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें मुक्त कराने के लिए सरकार पर काफी दबाव पड़ा और प्राय: एक वर्ष बाद १० मार्च १९३७ को वे नि:शर्त रिहा कर दिये गये। ५ वर्ष के निर्वासन तथा कारावास के बाद अब वे पुन: सक्रिय राजनीति में प्रविष्ट हुए। फरवरी १९३८ में उन्हें सर्वसम्मति से कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन का अध्यक्ष चुना गया। १९३९ में त्रिपुरी अधिवेशन में भी वे अध्यक्ष चुने गये थे, बाद में कुछ आपसी मतभेदों के कारण इस पद से त्यागपत्र देकर उन्होंने 'फार्वर्ड ब्लाक' की स्थापना की।

नेताजी ने रामकृष्ण मिशन के कई केन्द्रों का परिदर्शन किया था। मिशन द्वारा परिचालित कलकत्ता विद्यार्थी आश्रम और शिशुमंगल प्रतिष्ठान का कार्य देखकर वे बड़े प्रभावित हुए थे और कहा था कि इसी प्रकार की संस्थाओं पर देश का वास्तविक कल्याण निर्भर है। बंगला 'सुभाष रचनावली' के छठें खण्ड में (पृ. १६० पर) १९४० ई. में रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर में परिदर्शनार्थ आये हुए नेताजी का एक छायाचित्र दिया हुआ है।

इसी बीच दूसरा विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो गया। और भारत के वायसराय ने भारत के भी युद्ध में सम्मिलित होने की घोषणा कर दी। सुभाषबाबू ने अपने साथियों के साथ युद्धविरोधी आन्दोलन शुरू कर दिया और उन्हें २ जुलाई १९४० ई. के दिन पुन: गिरफ्तार कर लिया

गया। इस अन्यायपूर्ण गिरफ्तारी के विरोध में २९ नवम्बर से प्रेसीडेन्सी जेल में ही उन्होंने आमरण अनशन प्रारम्भ किया। एक सप्ताह के भीतर ही ब्रिटिश सरकार को उनके नैतिक बल के समक्ष झुक जाना पड़ा और ५ दिसम्बर को उन्हें निःशर्त छोड़ दिया गया। वे घर लौट आये तो भी उन्हें नजरबन्द रखा गया। उनके कलकत्ते के मकान पर चौबीसों घण्टे पुलिस और गुप्तचरों का पहरा बना रहता था। इन्हीं दिनों जनवरी १९४१ ई. के प्रारम्भ में जबकि वे छद्मरूप से फरार होकर विदेश जाने की तैयारी कर रहे थे, एक दिन नागपुर के डा. एन. बी. खरे उनसे भेंट करने को आये। वहाँ उन्होंने जो कुछ देखा, उसका अपनी आत्मकथा में उन्होंने निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है—

"मुझे उस कमरे में ले जाया गया जहाँ सुभाषबाबू रोगशय्या पर लेटे हुए थे। उन्होंने अपनी दाढ़ी तथा मूँछें बढ़ा रखी थीं। उनके बिस्तर के निकट फर्श पर पूजा की सामग्री रखी हुई थी। पास ही गीता तथा अन्य धर्मग्रन्थ भी पड़े थे। बिस्तर पर एक जपमाला भी थी। कमरे की दीवारों पर रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द तथा अन्य सन्तों के बड़े-बड़े चित्र शोभित हो रहे थे। कमरे में प्रवेश करते ही मैं बड़े विस्मय में पड़ गया कि कहीं मैं एक राजनेता के कमरे में जाने की जगह गल्ती से एक साधु के आश्रम में तो नहीं पहुँच गया हूँ।...

"कमरे में पहुँचने के बाद हमने एक दूसरे का अभिवादन किया, फिर मैंने सुभाषबाबू की बाह्य आकृति पर आश्चर्य व्यक्त किया। मैंने उन्हें स्पष्ट रूप से कह दिया कि मैंने कभी भी आपको ऐसे आध्यात्मिक भाव में नहीं

देखा। सुभाष बोस ने उत्तर दिया, 'इसमें विस्मय की कोई बात नहीं। मेरे मन में सदा ही आध्यात्मिकता की ओर रुझान रहा है।"*

२६ जनवरी १९४१ की रात को सुभाषबाबू फरार हो गये और गुप्त रूप से अफगानिस्तान और जर्मनी होते हुए अन्त में जापान पहुँच गये। १५ फरवरी १९४२ को सिंगापुर में ब्रिटिश सेना ने जापान के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। १ जुलाई १९४३ को आजाद हिन्द फौज की कमान सम्भालने नेताजी सिंगापुर आ पहुंचे। नेताजी के सिंगापुर प्रवास के कुछ संस्मरण स्थानीय रामकृष्ण मिशन के सचिव स्वामी भास्वरानन्दजी ने लिपिबद्ध किया है, जिसमें नेताजी के व्यक्तिगत जीवन की थोड़ी झलक मिल जाती है और इसका आभास मिल जाता है कि व किस प्रकार एक महान सेनानायक के साथ ही साथ एक महान साधक का जीवन भी बिता रहे थे। स्वामी भास्वरानन्दजी लिखते हैं--

"सिंगापुर पहुँचकर उन्होंने समुद्रतट पर स्थित एक प्रासादनुमा भवन को अपना आवास बनाया। उस भवन के द्वार पर सर्वदा सशस्त्र प्रहरी खड़े रहते थे।...१९४३ ई. की विजयादशमी को रात को सुभाषबाबू ने अपने निवासस्थान से भारतीय स्वाधीनता संघ की मार्फत गाड़ी भेजकर मुझसे अनुरोध किया कि मैं यथाशीघ्र आकर उनसे मिलूं। उस समय रात के नौ बजे थे। मैं उसी गाड़ी में बैठकर उनसे मिलने को गया। गाड़ी के (उक्त भवन के) द्वार पर पहुँचते ही वहाँ खड़े सशस्त्र पहरेदारों ने बड़े लिहाज के साथ ले जाकर नेताजी के निजी सचिव के साथ

* My Political Memoirs, Dr. N. B. Khare, PP. 46-47

मेरा परिचय कराया। सचिव मि. हसन मुझे नेताजी के पास ले गये। मेरे पहुँचते ही उन्होंने (उठकर) अत्यन्त विनम्रता और श्रद्धापूर्वक मुझे प्रणाम करके बैठने को कहा और सहकारियों को चाय लाने का आदेश दिया। इसी बीच हमारी बातचीत शुरू हो गयी। हमारे सिंगापुर आश्रम के क्रियाकलापों को जानने की उनकी उत्सुकता देखकर, मैंने विस्तारपूर्वक उन्हें इस विषय में अवगत कराया। फिर चाय के साथ पुनः बातचीत होने लगी। (नेताजी ने बताया कि किस प्रकार वे कलकत्ता से निकल कर जापान पहुँचे और उनकी भावी योजनाएँ क्या हैं) थोड़ी देर वार्तालाप के बाद मैंने कहा 'हमारे मिशन की कार्यप्रणाली तो आपको ज्ञात ही है। मिशन के आदर्श एवं उद्देश्यों को बनाये रखकर हमलोग भी यथासम्भव आपके कार्य में सहायता करेंगे, इस विषय में आप निश्चिन्त रहें।' उनके अनुरोध पर मैंने वहीं भोजन किया और आश्रम लौटते लौटते रात के बारह बज गये। उनसे मिलने जाने पर वे कभी बिना भोजन कराये नहीं मानते थे। उनके स्नेह-यत्न पर कोई भी मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता था।

"अपने सिंगापुर अवस्थान काल में नेताजी माँ श्री सारदादेवी के जन्मदिन पर आमन्त्रित होकर रामकृष्ण मिशन के भवन में आये थे। उस दिन वे मन्दिर में जाकर करीब आधे घण्टे तक ध्यानमग्न बैठे रहे। फिर पूजा हो जाने के बाद उन्होंने प्रसाद ग्रहण किया और थोड़ी देर तक बातचीत करते रहे। इसी प्रकार प्रायः एक घण्टा बीत जाने के बाद उन्होंने 'चण्डी' (दुर्गासप्तशती) की एक प्रति के लिए इच्छा व्यक्त की। मेरी अपनी चण्डी

की प्रति उन्हें उपहार में दे देने पर, उन्होंने अतीव आनन्द व्यक्त किया ।

"नेताजी हमारे मिशन के कार्यों के एक महान पृष्ट-पोषक थे । आश्रम के अनाथालय के लिए अपील जारी करने पर उन्होंने भवन आदि के निर्माण में काफी सहायता दी थी । निर्माण कार्य के लिए उन्होंने अपने पास से पचास हजार डालर प्रदान किया तथा और भी पचास हजार डालर एकत्र कर दिया था । फिर उन्होंने स्वयं ही आकर **Boys Home** (छात्रावास) का उद्घाटन भी कर दिया था । युद्धकाल में कालाबाजारी तथा खाद्य-नियन्त्रण के फलस्वरूप तीन सौ बच्चों के लिए अन्न-वस्त्र की व्यवस्था करना हमारे लिए टेढ़ी खीर थी, पर अनाथालय के बालक-बालिकाओं के लिए अन्न-वस्त्र की व्यवस्था उन्होंने स्वयं ही कर दी थी ।

"हमारे मिशन के विद्यालय को भारतीय राष्ट्रीय विद्यालय में परिणत कर दिया गया था । हमारे विद्यालय में सैनिक-शिक्षा की भी व्यवस्था थी और एक दिन नेताजी हमारे बच्चों का प्रदर्शन देखने मिशन में आये । एक अन्य दिन वे उनके (छात्रों) द्वारा आयोजित संगीत सभा में भी आये थे । पाँचवी बार वे तब आये, जब उन्होंने हमारे हाल में एक सभा का आयोजन किया था । उस सभा में कई जापानी प्रतिनिधियों को भी आमन्त्रित किया गया था । उन्होंने अपने जापानी मित्रों को भी मिशन के बार में अनेक बातों से अवगत कराया ।"*

उपरोक्त सन्दर्भ में नेताजी क उन दिनों के घनिष्ठ

* उद्बोधन, वर्ष १३५५ (बंगीय) माघ-पृ. ९-११, फाल्गुन पृ. ६५ ।

सहयोगी तथा आजाद हिन्द सरकार के प्रचार एवं प्रकाशन मंत्री श्री एस. ए. अय्यर के संस्मरण भी उल्लेखनीय हैं। अपनी सुप्रसिद्ध नेताजी की जीवनी में वे लिखते हैं—"अपने सिंगापुर निवास काल में, कई बार रात को भोजन के पश्चात् वे अपनी कार भेज कर रामकृष्ण मिशन से वहाँ के प्रमुख स्वामीजी अथवा उनके सहकारी ब्रह्मचारी कैलाशम को बुलवा लेते और उनके साथ करीब दो घण्टे तक आध्यात्मिक चर्चा में बिताकर, आधी रात के बाद अपने प्रशासनिक कागजपत्रों को देखने अपने अध्ययन कक्ष में चले जाते। अथवा कभी-कभी काफी रात गये गाड़ी चलाकर गुप्त रूप से मिशन में पहुँच जाते और वहाँ उपासना की रेशमी धोती पहनकर, हाथ में माला लिए प्रार्थना गृह में जाकर द्वार बन्द कर लेते तथा वहाँ ध्यान करते हुए कोई दो घण्टे बिता देते। इससे उन्हें जटिल समस्याओं का सामना और उन्हें हल करने में सहायता मिलती थी। अत्यन्त आवेगपूर्वक वे ईश्वर से पथप्रदर्शन के लिए प्रार्थना करते। उनके विकारहीन मुखमण्डल, दृढ संकल्प, चरम पर शान्त आत्मविश्वास तथा सफलता एवं असफलता में अनासक्ति के पीछे था उनका यह बोध कि मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ उसमें ईश्वर ही मेरा हाथ पकड़कर मार्गदर्शन कर रहे हैं।"

"उनकी साधुता का एकमात्र परिचायक था, एक छोटा-सा चमड़े का बटुआ, जो उनके व्यक्तिगत सामान का सबसे छोटा अंश था। उसके भीतर ढाई इंच लम्बी और दो इंच चौड़ी एक गीता, तुलसी की एक छोटी जप-माला तथा पढ़ने का एक अलग चश्मा था। काफी काल तक केवल उनके निजी सेवक को ही उनकी इन चीजों की

जानकारी थी, बाकी किसी को भी नहीं। यह तथ्य ही उस चरम एकान्तिकता का एक नमूना था, जिसमें कि नेताजी अपने ईश्वर के साथ निवास करते थे। उनकी श्रद्धा किसी को दिखाने की वस्तु नहीं थी। उनके चेहरे पर सदा विराजमान रहनेवाली वह दुर्लभ ज्योति और उत्तेजनापूर्ण घटनाओं के बीच भी उनके मुखमण्डल पर व्यक्त होने वाली प्रशान्ति का इसके अतिरिक्त अन्य कोई स्रोत नहीं हो सकता था। वे जनसभा में एक बार भी अपने ईश्वर के बारे में नहीं बोले, क्योंकि वे उन्हीं में निवास कर रहे थे।" †

ब्रह्मचारी कैलाशम मिशन के भारतीय राष्ट्रीय विद्यालय के प्रधानाचार्य तथा आजाद हिन्द संघ के शिक्षा एवं संस्कृति विभाग के सभासद थे। महायुद्ध के दौरान जापानियों ने बैंकाक में भारतीय मजदूरों से काम लेते समय उन पर कुछ ज्यादतियाँ की। नेताजी को पता चलने पर उन्होंने इसका विरोध किया और जापानी लोगों ने उनके साथ समझौता कर लिया। वे लोग समझौते की शर्तों का ठीक-ठीक पालन कर रहे हैं अथवा नहीं, इसकी जाँच करने को नेताजी ने ब्रह्मचारी कैलाशम के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मण्डल को बैंकाक भेजा था।

इस काल में सिंगापुर का भारत के साथ सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया था और वहाँ के रामकृष्ण मिशन क सचिव स्वामी भास्वरानन्दजी स्वाधीन रूप से सेवाकार्य चलाते रहे। परन्तु जापान का पतन हो आने के बाद जब ब्रिटिश सेना ने पुनः सिंगापुर पर अधिकार कर लिया, तो वे भी उनके सन्देह के घेरे में आये। चूँकि नेताजी

† Unto Him A Witness, S.A. Ayer, Ed. 1951, p. 269

नियमित रूप से वहाँ के आश्रम में आया-जाया करते थे, अतः स्वाभाविक रूप से उन पर जापानियों और आजाद हिंद फौज का सहयोगी होने का सन्देह किया गया। इस कारण मिशन के नारिस रोड पर स्थित कार्यालय की तलाशी ली गयी और स्वामीजी को सोलह दिन तक जेल में रखा गया। तदुपरान्त उन्हें रिहा करके आश्रम के जप्त किये हुए कागजात लौटा दिये गये।*

पर यह तो बाद की बात है। इसकी काफी पूर्व अपने सिंगापुर निवास काल में ही नेताजी ने २५ अक्तूबर १९४३ को अस्थायी आजाद हिन्द सरकार की ओर से ब्रिटेन और अमेरिका के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी थी। ८ नवम्बर को जापानी सरकार ने अन्दमान और निकोबार द्वीप समूह आजाद हिन्द सरकार को सौंप दिया, जिन्हें 'शहीद' और 'स्वराज्य' द्वीप का नया नाम दिया गया। १९ से २४ नवम्बर तक फौज की टुकड़ियाँ रंगून की ओर रवाना हो गयीं। ४ जनवरी १९४४ को नेताजी अपना मुख्यालय भी स्थानान्तरित कर रंगून ले गये और वहाँ से सैन्यदल को मोर्चे पर भेजने की तैयारी में लग गये। अपने रंगून प्रवास के दौरान भी सुभाषबाबू ने वहाँ की रामकृष्ण मिशन सोसायटी से अपना आन्तरिक सम्पर्क बनाये रखा था। वे प्रायः ही मिशन जाकर वहाँ मन्दिर में बैठकर ध्यान किया करते थे। युद्ध का पलड़ा धीरे-धीरे ब्रिटिश सेना की ओर झुकता गया और धीरे-धीरे वर्मा पर उनका दबाव बढ़ता गया। २४ अप्रैल १९४५ को वे रंगून छोड़कर बैंकाक की ओर रवाना हुए। विदा की पूर्व सन्ध्या

* History of the Ramakrishna Math and Mission, Swami Gambhirananda, 1st Ed. P.p. 359-60

अर्थात् २३ अप्रैल की रात को नेताजी श्रीरामकृष्ण के मन्दिर में अन्तिम बार दर्शन करने को आये थे। नेताजी के घनिष्ठ सहयोगी तथा प्रत्यक्षदर्शी देवनाथ दास से सुनकर नरेन्द्रनाथ चक्रवर्ती ने इस घटना का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है--

"सचमुच ही वह एक विचित्र और अद्‌भुत दिन था, आत्मनिवेदन का एक अविस्मरणीय दिन था। उनके रंगून त्याग की पूर्वनिशा! उनके स्वप्न और लक्ष्य का पूरा ढाँचा उनकी आँखों के सामने ही चूर्ण-विचूर्ण होकर भहरा पड़ा था। सामने दीख रहा था अन्धकार का अनन्त सागर। उस चरम संकट की बेला में रंगून त्यागने के पूर्व की घड़ी में नेताजी ने अपनी सामरिक वेशभूषा उतारकर रेशमी वस्त्र धारण कर लिया था। शुचि-शुभ्र निर्विकार योगी एकाकी ही अपने आदर्श पुरुष (स्वामीजी) के प्राण-देवता के सेवायतन--रामकृष्ण मिशन के मन्दिर में चले गये थे। युगऋषि (श्रीरामकृष्ण) की मूर्ति के समक्ष वे शान्त--तद्‌गत, तन्मय बैठे रहे। स्वयं को उन्होंने शून्य कर डाला था। महाप्रस्थान के पूर्व क्या यह उनकी स्वयं को जानने की आकांक्षा थी? क्या वे स्वयं को पहचान सके थे? क्या उनके मन में यह बात भी उठी थी कि मृत्यु ही मरण नहीं है?--कौन जाने?"*

२४ अप्रैल को नेताजी ने रंगून छोड़ा और उसके बाद घटनाचक्र तेजी से घूमा। आजाद हिंद फौज जो केवल मनोबल पर लड़ रही थी, ब्रिटेन के आधुनिकतम अस्त्रों के समक्ष नहीं टिक सकी। ३ मई को रंगून पर ब्रिटिश

* चिन्तानायक विवेकानन्द (बंगला ग्रंथ) में ब्रह्मचारी शंकर लिखित 'युगनायक ओ देशनायक' अध्याय, पृ. ७८७-८८।

सरकार का अधिकार हो गया। जापानी सेना का भी साहस छूट रहा था। ५ अगस्त को अमेरिका ने हिरोशिमा पर अणु बम गिराया, जापान के पाँव लड़खड़ा गये और ८ अगस्त को नागासाकी पर अणु बम गिरते ही जापान लाचार हो गया। १५ अगस्त को जापान ने आत्मसमर्पण की घोषणा कर दी। १७ अगस्त को नेताजी सैगौन के हवाई अड्डे से कर्नल हबीबुर्रहमान के साथ एक विमान में एक अज्ञात स्थान की ओर उड़े। कहते हैं कि उस रात इण्डोचीन के टूरेन अड्डे पर उनका विमान उतरा और वहीं रात बिताकर अगले दिन वे फारमोसा के टाइहोकू हवाई अड्डे पर उतरे। वहाँ भोजन तथा विश्राम के बाद उनका विमान पुनः उड़ा पर शीघ्र ही दुर्घटनाग्रस्त हो गया। नेताजी और कर्नल हबीब दोनों बुरी तरह घायल हो गये। उन्हें शीघ्रतापूर्वक अस्पताल ले जाया गया। सुभाषबाबू वहाँ अचेत पड़े थे। १९ अगस्त को ९ बजे रात के समय मृत्यु के थोड़ी ही देर पूर्व नेताजी की संज्ञा लौटी और वे बोले—"हबीब, मेरा अन्त आसन्न है। मैं अपनी सारी जिन्दगी अपने देश की आजादी के लिए लड़ता रहा हूँ और (आज) अपने देश की आजादी के लिए मर रहा हूँ। जाकर मेरे देशवासियों से कह देना कि वे भारत की आजादी के लिए अपनी लड़ाई जारी रखें। भारत आजाद होगा और जल्दी ही होगा।"* ये ही उनके अन्तिम शब्द थे और यही उनका अन्तिम सन्देश था।

कर्नल हबीबुर्रहमान द्वारा कथित नेताजी की मृत्यु सम्बन्धी विवरण की सत्यता पर काफी वाद-विवाद हुआ है, परन्तु यह तथ्य निर्विवाद है कि नेताजी ने स्वामीजी

* In Freedom's Quest, N. G. Jog, ed. 1969, P. 272.

का आदेश शिरोधार्य कर अन्य सभी देवी-देवताओं की अपेक्षा पूर्ण मनोयोग के साथ भारत माता की उपासना की थी। बंगला के प्रसिद्ध लेखक श्री मोहितलाल मजुमदार ने उन्हें स्वामीजी का मानस पुत्र माना है। निःसन्देह नेताजी भारतीय स्वाधीनता की नींव के पत्थर थे और ऐसे ही महापुरुषों के त्याग एवं बलिदान के फलस्वरूप ही हमें आजादी प्राप्त हुई है। नेताजी ने यह युद्ध एक सैनिक से कहीं अधिक एक साधक के रूप में किया था। अपने रंगून के दिनों में एक बार उन्होंने कहा था—"मेरे मन में बारम्बार यह इच्छा होती है कि सबकुछ त्याग कर मैं अपने दिन ध्यान और प्रार्थना में बिता दूँ, पर मुझे भारत के स्वाधीन हो जाने तक इन्तजार करना होगा।"† नेताजी को धर्म-साधना में पूर्णतः डूब जान का अवसर मिला नहीं, परन्तु दहावसान के पश्चात् अवश्य ही उनकी भी वही गति हुई होगी जो एक ब्रह्मवेत्ता की होती है

(समाप्त)

○

उठो ! जागो ! और भीतर के देवत्व को अभिव्यक्त करो। बारम्बार बोलो, 'मैं आत्मा हूँ, मैं आत्मा हूँ। मैं सत् चित् आनन्द हूँ। मैं शान्त देदीप्यमान और अपरिवर्तनीय हूँ। मेरा जन्म नहीं, मेरी मृत्यु नहीं, मैं निर्लेप आत्मा हूँ।' ऐसी धारणा में एकदम तन्मय हो जाओ। दिन-रात अपने से यही कहते रहो—'सोऽहं सोऽहम्।

—स्वामी विवेकानन्द

† Break Through Burma, Dr. Ba Maw (Quoted in Bhavan's Journal 27th July, 1980, P. 27)

माँ के सान्निध्य में (२२)

स्वामी ईशानानन्द

(प्रस्तुत संस्मरणों के लेखक माँ श्री सारदादेवी के शिष्य थे। मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्रीमायेर कथा' के द्वितीय भाग से इनका अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष हैं।—स.)

जगद्धात्री पूजा के समय कोयलपाड़ा से जिस व्यक्ति के कोठारी होकर आने की बात थी उसके अचानक ही अस्वस्थ हो जाने के कारण मैं ही उस कार्य का भार लेने पूजा के एक दिन पहले जयरामबाटी जा पहुँचा। माँ ने मुझसे कहा, "अच्छा हुआ, तुम यह काम कर सकोगे। आज सब कुछ देखकर समझ लो। कल खूब सवेरे स्नान करके भण्डार में आ जाना। थोड़ी शुद्धता के साथ काम करना, उसी से हो जायगा।" उस अंचल में समाज का बन्धन खूब कठोर था, इसी कारण माँ ने यह अन्तिम बात कही।*

जगद्धात्री पूजा के दिन माँ सुबह ही भण्डार में आकर एक बोरे के ऊपर पाँव लटकाकर बैठ गयीं। किसी के कुछ माँगने के लिए आने पर मैं उन्हें दिखा-दिखाकर वह सब देने लगा। पूजा समाप्त हो जाने पर माँ ने स्नान किया और पुष्पांजलि देने के लिए मामी लोगों को साथ लेकर मण्डप में गयीं। तीन बार देवी के चरणों में पुष्पांजलि देने के बाद गले में आँचल देकर वे विनयपूर्वक हाथ जोड़कर

---

* एक बार भगिनी निवेदिता के माँ के गाँव जाने की इच्छा प्रकट करने पर माँ ने उनसे कहा था, "न बेटी, मेरे जीते जी तुम लोग वहाँ मत जाना। नहीं तो वे लोग मेरा बहिष्कार कर देंगे।"

एक किनारे थोड़ी देर तक चुपचाप बैठी रहीं। पूजा निर्विघ्न समाप्त हो गयी। दोपहर में गाँव के अनेक नर-नारियों ने अन्न प्रसाद ग्रहण किया। प्रतिमा तीन दिन रखी जाती थी। दूसरे दिन मुझे बुखार आ जाने पर माँ ने स्वयं ही भण्डार का सारा कार्य किया।

सन्ध्या-आरती के पश्चात् समस्त साधु-भक्तों ने मिलकर भजन गाना आरम्भ किया। वे लोग बारम्बार यह पंक्ति दुहराने लगे—

"माँ को देखूँगा ऐसी भावना कोई करो नहीं।
वे मेरी तेरी माँ न केवल, माँ सारे जगत की ।।"*

माँ बगल के कमरे में महिलाओं के साथ बैठी हुई एकाग्रचित्त से यह गाना सुन रही थीं। रात को वे मुझसे बोलीं, "अहा! भजन बहुत अच्छा जमा था। भक्तों की भला जात कैसी? सभी सन्तान एक हैं। मेरी इच्छा होती है कि सबको बैठाकर एक ही पात्र में खिलाऊँ। पर इस मुँए देश में जात-पाँत की भावना भी बहुत है। खैर, मुरमुरे में तो दोष नहीं। कल एक काम करना। बड़े सबेरे कामार-पुकुर के सत्य हलवाई की दुकान से दो सेर बड़ी-बड़ी जलेबियाँ लेते आना।" अगले दिन सुबह नौ बजे के करीब मैं जलेबियाँ लेकर लौटा। माँ ने उसे एक बार श्री ठाकुर को दिखाया और उसके बाद एक बड़ी थाली में बहुत-सा मुरमुरा तथा उसके चारों ओर जलेबियाँ सजाकर भक्तों के पास भेज दिया। हम सभी बड़े आनन्द के साथ उसे खाने लगे। माँ पास के कमरे में खड़ी होकर यह देखती रहीं।

* बंगला भजन का भावार्थ।

एक बार बरसात में जयरामवाटी में मलेरिया और आँव की बीमारी का बड़ा प्रकोप हुआ। माँ भी कई दिनों तक रक्तातिसार से खूब कष्ट भोगने के पश्चात् डाक्टर काजीलाल के चिकित्सा से ठीक हुईं। पानी और कीचड़ में चलने-फिरने के फलस्वरूप कोयलपाड़ा आश्रम के हम सभी अन्तेवासियों को थोड़ा-बहुत ज्वर हुआ। दस-पन्द्रह दिनों तक हममें से किसी को भी जयरामवाटी न आते देख माँ ने एक नौकरानी को हमारा समाचार लेने भेजा। फिर उसके अगले ही दिन उन्होंने राधू के द्वारा हम लोगों को एक पत्र लिखवाकर भेजा, जिसका मर्म यह था—"प्रिय केदार, वहाँ के आश्रम में मैंने ठाकुर की प्रतिष्ठा की है। वे उसने हुए चावल का भात खाते थे अतः ठाकुर को उसने हुए चावल का भात देना। और चाहे जो हो तीन प्रकार की तरकारियों के बिना तुम भोग नहीं दोगे। ऐसी कठोरता करने पर गाँव की मलेरिया के साथ संघर्ष कैसे कर पाओगे!"

इसके कुछ दिन बाद माँ केदारबाबू से राधू के बारे में कहने लगीं, "इतनी बड़ी लड़की हो गयी, तो भी उसे चेतना नहीं आयी है। उसके माध्यम से ठाकुर ने मुझे क्या ही बन्धन में डाल रखा है! उनके देहत्याग के पश्चात् जब मैं गाँव में आकर इसी स्थान पर उदास भाव से बैठी रहती थी, तो उसे लाल कपड़े पहने एक छोटी बच्ची के रूप में सामने घूमते देखा करती थी।" केदारबाबू को थोड़ा हँसकर अन्यमनस्क होते देख माँ ने कहा, "ओ केदार, सुन रहे हो न? वह योगमाया है।" केदारबाबू बोले, "नहीं माँ, मैंने सब सुना नहीं—फिर से कहिए।" माँ फिर कहने लगीं, "ठाकुर के देहत्याग के बाद कुछ भी

अच्छा नहीं लग रहा था। मन हाहाकार कर रहा था। मैं ठाकुर से प्रार्थना करती थी, 'अब मुझे इस संसार में रहने से क्या लाभ!' उसी समय सहसा मैंने देखा कि दस-बारह साल की एक बालिका लाल कपड़े पहने मेरे सामने घूम फिर रही है। ठाकुर ने उसे दिखाकर कहा, 'इसी का आश्रय करके रहो। तुम्हारे पास अब कितने ही लड़के लोग आयेंगे।' दूसरे ही क्षण वे अन्तर्धान हो गये। बच्ची भी फिर दिखाई न दी। उसके बाद एक दिन मैं ठीक इसी जगह पर बैठी थी। छोटी बहू (राधू की माँ) तब बिल्कुल पागल हो चुकी थी, कुछ कथरियाँ बगल में दबाये वह खींचते-खींचते चली जा रही थी और राधू रोते-रोते घुटनों के बल उसके पीछे चल रही थी। यह देखकर मेरा कलेजा मुख को आ गया। दौड़कर मैंने राधू को उठा लिया। मन में आया कि इसकी अगर मैं देखभाल न करूँ तो दूसरा और कौन करेगा? बाप है नहीं और माँ पागल है। यही सोचकर ज्योंही मैंने उसे गोद में उठाया कि ठाकुर सामने दीख पड़े। वे बोले, 'यही है वह लड़की, इसी का आश्रय लेकर रहो। यह योगमाया है।' क्या जानूँ भाई, पहले पहल तो वह ठीक थी। आजकल उसे तरह-तरह के रोग हो गये हैं, फिर विवाह भी हुआ है। अब भय होता है पागल की लड़की बाद में कहीं पागल न हो जाय। क्या मैंने आखिरकार एक पागल को ही पाल-पोसकर बड़ा किया!"

एक बार माँ ने कलकत्ते से केदारबाबू को पत्र में लिखा, "तुम लोग कोयलपाड़ा में यदि मेरे लिए एक कमरा बनवा सको, तो फिर गाँव जाते समय बीच बीच में आकर तुम लोगों के वहाँ रहा करूँगी।" यह पत्र पाने के बाद हम

लोगों ने अपने प्रयास से उनके लिए एक मकान बनवा दिया। वही 'जगदम्बा आश्रम' हुआ। पहली बार माँ उसमें लगभग एक पखवारा निवास करने के बाद जयरामवाटी गयीं। फिर एक दिन सन्ध्या के समय उनके द्वितीय बार आने की बात निश्चित हुई। हम लोगों ने पालकी की व्यवस्था कर ली थी। परन्तु उस दिन सुबह से ही मूसलाधार वर्षा आरम्भ हो गयी। समाचार आया कि नदी का जलस्तर खूब बढ़ गया है। तथापि केदारबाबू ने कहा, "उनके आदेशानुसार तुम लोग यथासमय पालकी लेकर चले जाओ। उसके बाद माँ जैसा कहें, वैसा करना।" नदी के पास जाकर देखा तो तैरने लायक पानी था। राजेन महाराज तैरकर उस पार से डोंगी ले आये। और हम लोग पालकी के साथ पार होकर दोपहर में लगभग तीन बजे जयरामवाटी पहुँचे।

काली मामा हम लोगों को डाँटते हुए बोले, "तुम लोग इस आँधी-पानी में दीदी को लेने कैसे चले आये?" माँ मन्द-मन्द हँस रही थीं। राजेन दादा ने कहा, "हमारी क्या बिसात है, जो माँ को ले जाये या उनकी सेवा कर सकें! आज पालकी लेकर आयेंगे कहा था, इसीलिए ले आये हैं।" इस पर माँ हँसते हुए बोलीं, "तुम लोग अपनी बात रख सकते हो और क्या मैं नहीं रख सकती? अकेली ही पालकी में जाऊँगी। मुझे ले चलो। ये लोग सब बाद में जायेंगे।" तब हम लोग हार कर बोले, "नहीं माँ, ऐसा भी भला क्या हो सकता है? इस आँधी-पानी में कोई घर से निकल तक नहीं पा रहा है और ऐसे में भिगाते हुए ले जाकर क्या आपको बीमार पड़ायेंगे?" तब काली

मामा और माँ दोनों खूब हँसने लगे। हम लोग पालकी लेकर आश्रम में वापस लौट आये।

परन्तु माँ के उसके बाद ही अस्वस्थ हो जाने के कारण कई महीने बाद वे कोयलपाड़ा आयीं। एक दिन लगभग ग्यारह बजे 'जगदम्बा आश्रम' में जाने पर मैंने देखा कि वहाँ महिलाएँ काफी व्यग्र हो उठी हैं। केदारबाबू की माँ धीरे-धीरे कह रही थीं, "माँ को भावसमाधि हुई है। 'ठाकुर'——इतना ही कहकर वे अचेत हो गयी हैं।" महिलाएँ उनके सिर और आँखों पर पानी छिड़कने लगीं। थोड़ी देर बाद माँ के सामान्य अवस्था में आ जाने पर नलिनी दीदी ने पूछा, "बुआ, ऐसा क्यों हुआ ?" माँ बोलीं, "कहाँ क्या हुआ ? वह कुछ भी नहीं था। तुम्हारी सूई में धागा पिरोते समय सिर में चक्कर सा आ गया था।" माँ की यह बात सुनकर किसी ने और कुछ नहीं कहा।

बाद में 'उद्बोधन' में अपनी अन्तिम बीमारी के समय माँ ने भावसमाधि की इस घटना को मुझे स्पष्ट रूप से बताया था। उस दिन डेढ़-दो बजे उनका बुखार चढ़ता जा रहा था। मैं रोज की भाँति उनके बिस्तर के एक किनारे बैठकर उन्हें हवा कर रहा था और मस्तक पर गीला हाथ फेर रहा था। माँ मेरी पीठ और छाती पर हाथ फेरती हुई मुँह की ओर देखते हुए कहने लगीं, "मैं समझ रही हूँ कि यह शरीर चले जाने पर तुम लोगों को बड़ा कष्ट होगा।" मैंने कहा, "माँ, आप ऐसी बातें क्यों कहती हैं। दवाई से भी जब कोई खास लाभ नहीं हो रहा है, तो फिर ठाकुर को ही शरीर के लिए थोड़ा सा कहिए न ! इसी से तो सारी बीमारी दूर हो

जाएगी।" माँ ने थोड़ा सा हँसते हुए कहा, "कोयल-पाड़ा में मुझे इतना ज्वर हो जाता था कि मैं बिस्तर में ही बेसुध हो जाती थी। परन्तु होश में आने पर जब भी शरीर के लिए उनका स्मरण करती, तभी उनका दर्शन मिलता। दुर्बल देह लिये एक दिन मैं बरामदे में बैठी थी। नलिनी आदि कुछ सिलाई कर रही थीं। धूप बड़ी तेज थी, चारों ओर धू धू कर रहा था। मैंने देखा कि ठाकुर सदर दरवाजे से आकर ठण्डे बरामदे में बैठकर सो गये। यह देखकर मैं शीघ्रतापूर्वक अपना आँचल बिछाने गयी। बिछाते समय न जाने कैसी अवस्था हो गयी। केदार की माँ आदि सब शोरगुल मचाने लगीं। इसीलिए मैंने उनसे कह दिया था, "कुछ भी नहीं था, सूई में धागा डालते समय सिर में चक्कर सा आ गया था!' तुम लोगों का ख्याल करके क्या मैं शरीर के लिए बीच बीच में ठाकुर को बताती नहीं? परन्तु शरीर क लिए जब भी उनका स्मरण करती हूँ, किसी हालत में उनका दर्शन नहीं होता। लगता है कि वे नहीं चाहते कि यह शरीर रहे। शरत् (स्वामी सारदानन्द) रहेगा।" बाद में कोयलपाड़ा लौटकर मैंने केदार महाराज की माँ से भी ठीक वैसा ही सुना। माँ ने उन्हें भी उसी तरह की बातें कही थीं। (क्रमश:)

○

मोह : कारण और निवारण

(गीताध्याय ७ श्लोक २०-३०)

स्वामी आत्मानन्द

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संस्थापक सचिव तथा 'विवेक-ज्योति' के सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आश्रम के रविवारीय सत्संग में २ जुलाई १९६७ से १८ जनवरी १९७६ के दौरान श्रीमद्भगवद्गीता पर कुल २१३ प्रवचन किये थे। उन्हें ही क्रमश: यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। इनमें से शुरू के ७८ प्रवचन गीतातत्त्व चिन्तन भाग-१ तथा भाग-२ के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं।—स.)

पिछले प्रवचन में हमने देखा कि अनेक जन्मों की साधना के पश्चात् जब किसी बिरले महापुरुष को ज्ञानलाभ होता है तब उन्हें अनुभूति होती है, 'वासुदेव: सर्वम् इति'–यह जो कुछ है सब वासुदेव ही हैं अर्थात् अंदर-बाहर जो भी कुछ दिख रहा है, अनुभव हो रहा है वह सब ईश्वर ही है। किन्तु ऐसे ज्ञानी महात्मा अत्यन्त दुर्लभ हैं। इसीलिये तो हे अर्जुन, मैंने कहा कि ऐसा ज्ञानी मानो मेरा आत्मस्वरूप ही है। किन्तु एक शंका अर्जुन के मन में रह गयी––क्या कारण है कि लोग इतने श्रेष्ठ ज्ञान की अनुभूति से वंचित रहते है ? सभी को यह ज्ञान क्यों नहीं प्राप्त हो जाता ? इसका कारण बताते हुए भगवान कहते हैं––

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता: ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियता: स्वया ।।७/२०

स्वया (अपने) प्रकृत्या (स्वभाव से) नियता: (वशीभूत हुए) तै: तै: (उन उन) कामै: (कामनाओं द्वारा) हृतज्ञाना: (ज्ञानहीन

हुए) तं तं (उस उस) नियमं (नियम को) आस्थाय (अवलम्बन करके) अन्य देवता: (अन्य देवताओं का) प्रपद्यन्ते (भजन करते हैं)।

अपने स्वभाव के वशीभूत लोग उन उन भोगों की कामना द्वारा ज्ञानहीन होकर विभिन्न नियमों आदि का आश्रय ले वासुदेव को छोड़कर अन्य देवताओं को भजते हैं।

अर्जुन ने पूछा कि लोग आपको छोड़कर दूसरे देवताओं के पास क्यों जाते हैं? सभी ज्ञानी क्यों नहीं बन जाते? उत्तर में भगवान कहते हैं कि उनके हृदय में वासनायें हैं, जिन्होंने उनके ज्ञान को हर लिया है अर्थात् कामनाओं के कारण यह सच्चा ज्ञान दब सा गया है तथा उन कामनाओं से प्रेरित होकर ये लोग दूसरे देवताओं की शरण में जाते हैं। यहाँ यह बताया गया कि कामनाओं के कारण लोग ईश्वर को भूलकर अपनी कामना-पूर्ति के लिए विभिन्न देवताओं की शरण में जाते हैं तथा विभिन्न यज्ञादि करते हैं। प्राचीन समय में यह प्रथा थी कि लोग कामना-पूर्ति के लिए इन्द्र, वरुण आदि देवताओं के निमित्त यज्ञ किया करते थे। ये ही वे अन्य देवता हैं। आचार्य शंकर ने जिन पंच देवताओं की उपासना का विधान किया है, उन पर यहाँ आक्षेप नहीं है। विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश तथा सूर्य ये पाँच देवता है जिनकी पूजा का विधान आचार्य शंकर ने किया था। यह व्यवस्था आचार्य शंकर ने इसलिए दी कि इससे हिन्दू समाज संगठित रहे। वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर्य सभी लोग अपनी अपनी श्रद्धा के अनुसार इन देवताओं की पूजा करें, किन्तु साथ ही यह स्मरण रखें कि ये सभी उसी एक नारायण के

भिन्न भिन्न रूप हैं। अन्य देवता से यहाँ तात्पर्य है छोटे छोटे ग्राम्य देवता आदि, जिनकी उपासना लोग कुछ सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए किया करते हैं। भगवान कहते है मैं उनकी आस्था को भी स्थिर कर देता हूं--**तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।** उनके अपने स्वभाव से जो आस्था उनके मन में उत्पन्न हुई है मैं उसे ही स्थिर कर देता हूँ, अचल बना देता हूँ।

यो यो यां यां तनुं भक्तःश्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।।७/२१

यः यः (जो जो) भक्तः (भक्त) यां यां (जिस जिस) तनुम् (देवता के स्वरूप को) श्रद्धया (श्रद्धा से) अर्चितुम् (पूजना) इच्छति (चाहता है) अहं (मैं) तस्य तस्य (उस उस की) ताम् (उसी देवता के प्रति) श्रद्धाम् (श्रद्धा को) अचलाम् (स्थिर) विदधामि (करता हूँ)।

जो जो सकाम भक्त भक्त जिन जिन देवताओं का श्रद्धा से पूजन करता हैं मैं उन भक्तों की श्रद्धा को उन्हीं देवताओं के प्रति स्थिर कर देता हूँ।

भगवान ऐसा क्यों करते हैं? जब वे जानते है कि अन्य देवता निम्न कोटि के हैं, तो फिर उनके प्रति भक्त की श्रद्धा को क्यों स्थिर कर देते हैं? वे अन्तर्यामी और सर्वसमर्थ है। उन्हें तो चाहिए कि वे भक्त को ज्ञान दें। पर भगवान इसलिये ऐसा नहीं करते कि जिसके अन्तः-करण में जैसे कर्म-संस्कार हैं, वे उसके अनुसार ही उसे फल देते हैं। यहाँ बड़ी विलक्षण बात कही गई है। हम जैसा कार्य करते हैं, हमें उसके अनुसार ही फल मिलता है।

तो फिर ईश्वर का क्या प्रयोजन है ? मीमांसक भी कहते हैं कि कर्म ही सर्वशक्तिमान है, अतः ईश्वर की कहीं कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। किन्तु मीमांसा के अतिरिक्त हमारे जो अन्य दर्शन हैं, वे कहते हैं कि कर्म तो जड़ है। मान लो हमने एक कर्म किया। कर्म तो समाप्त हो गया, अब इस कर्म का फल कौन देगा ? कर्म तो जड़ है, अतः वह फल दे नहीं सकता। इसके पीछे कर्म का फल देनेवाला कोई चैतन्य-तत्व अवश्य होना चाहिए। यही चैतन्य-तत्व ईश्वर है। ईश्वर कर्मफलों का दाता है, इसीलिए कर्मफल में कभी कोई गड़बड़ी नहीं होती।

कभी कभी देखने में आता है कि एक असत्-दुष्ट-दुराचारी व्यक्ति बड़ी उन्नति कर रहा है, मौज-मजे कर रहा है, बड़े आराम से है। और दूसरी ओर कोई सच्चा-निष्ठावान-चरित्रवान व्यक्ति बड़े कष्ट में है। तब हमें लगता है कि कर्म का यह कैसा नियम है ? यह कैसा कर्म-फल है ? ये सब आपात दृष्टि से प्रतीत होने वाले लक्षण है। यदि हम उन व्यक्तियों के जीवन को ध्यान-पूर्वक कुछ वर्षों तक देखें, तो हमें विदित हो जाएगा कि असत् चरित के लोगों को समय बीतने के साथ साथ उनके दुष्कर्मों का फल मिलने लगता है। उसी प्रकार सत् प्रवृत्ति के लोगों को भी उसके सत्कर्मों का फल मिलता है। कर्म का अटल नियम कर्म-फल अवश्य प्रदान करेगा।

कर्म के नियम की तुलना कम्प्यूटर से की जा सकती है। ईश्वर के पास कम्प्यूटर है जिसमें संस्कारों का खजाना है। जैसे ही मैंने कोई कर्म किया कि उसके

संस्कार उस कम्प्यूटर में जाकर जमा हो गये। कम्प्यूटर जड़ है परन्तु उस कम्प्यूटर का चालक जड़ नहीं चैतन्य है। कम्प्यूटर चाहे जितना बड़ा काम क्यों न करे, दुनिया भर के जटिल गणित के प्रश्नों को क्षण भर में ही क्यों न हल कर दे पर उसे यह सब करने की क्षमता कौन देता है ?कोई चैतन्य व्यक्ति ही न ! यदि कम्प्यूटर को फीड करने वाला कोई चैतन्य व्यक्ति न हो तो कम्प्यूटर काम नहीं कर सकता। ईश्वर ही वह चैतन्य सत्ता है जो हमारे कर्म संस्कारों को कम्प्यूटर में फीड करता है।

जब दो व्यक्ति एक ही प्रकार के कर्म करते हैं, तब उनके कर्म-संस्कार भी एक ही प्रकार के होने चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं। क्यों? इसलिए कि कर्म के पीछे उनकी भावनाओं में अन्तर होता है। एक विधवा के पास सहायता करने लिए दो व्यक्ति जाते हैं। एक के मन में पाप है और दुसरे के मन में सेवा का भाव है। दोनों व्यक्ति धन, वस्त्र आद देकर विधवा की सहायता करते है। बाहर से दोनों का कर्म एक समान ही दोख पड़ता है, पर दोनों के कर्म-संस्कार भिन्न भिन्न रूप में अंकित होंगे। कर्म के ये भिन्न संस्कार जड़-तत्व अंकित नहीं कर सकता। इसके लिए एक चैतन्य-तत्व की आवश्यकता है यह चैतन्य-तत्व ही ईश्वर है। इसी-लिए भगवान ने कहा कि मैं उन व्यक्तियों की श्रद्धा को स्थिर कर देता हूँ। उनकी श्रद्धा और संस्कार को मैं एकदम से हटाना नहीं चाहता।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥७/२२

सः (वह सकाम भक्त) तया (उस) श्रद्धया (श्रद्धा से) युक्तः (युक्त हुआ) तस्य (उस देवता का) आराधनम् (पूजन) ईहते करता है) च (और) ततः (उस देवता से) मया (मेरे द्वारा) एव (ही) विहितान् (विधान किये हुए) तान् (उन) कामान् (इच्छित भोगों को) हि (अवश्य ही) लभते (प्राप्त करता है)।

वह सकाम भक्त वैसी श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता की आराधना करता है। वह उनसे मेरे द्वारा ही निश्चित कामनाएँ अवश्य पाता है।

भगवान यहाँ एक विलक्षण बात कहते हैं, 'मयैव विहितान्हितान्'–उसकी कामना की पूर्ति का विधान मैंने ही किया है। अर्थात वही कम्प्यूटर वाली बात। यद्यपि अपने कर्मों के फलस्वरूप ही वह अपनी कामनाओं की पूर्ति कर पाता है तथापि वह सोचता है कि देवताओं ने उसकी कामना-पूर्ति की है। उस पर प्रसन्न होकर देवताओं ने उसे वाँछित फल प्रदान किए हैं।

भगवान उस भक्त को ऐसा क्यों सोचने देते है? उसे ज्ञान क्यों नहीं दे देते? भगवान कहते हैं—देखो अभी वह भक्त उस ज्ञान को धारण करने का अधिकारी नहीं हो पाया है। यदि मैं उसे ज्ञान देकर उसकी श्रद्धा को उन देवताओं से हटा दूँ तो वह दूसरे को पकड़ नहीं पाएगा। वह पदस्खलित हो जायेगा। दोनों ओर से ही वंचित रहेगा। अतः अभी वह भक्त जहाँ खड़ा है, जिस देवता के प्रति उसकी श्रद्धा है, मैं उसे ही दृढ़ बनाकर उससे मानों खेलता रहता हूँ। खेल खेल में अपनी कामनाओं की पूर्ति से उसे सन्तोष मिलता है, तब धीरे धीरे उसके मन में ज्ञान का उन्मेष होने लगता है। ज्ञान का उन्मेष एकबारगी नहीं हो जाता।

वेद में यज्ञों का विधान है। कुछ यज्ञ ऐसे हैं, जिनमें पशुओं की वलि दी जाती है तथा उनके मांस को खाया जाता है। कहीं सुरापान का विधान भी है। ये सारी व्यवस्थाएँ इसलिए हैं कि सभी व्यक्ति उन्नत मन के नहीं होते। कुछ लोगों में मांस खाने की इच्छा प्रबल होती है। कुछ सुरापान भी करना चाहते हैं। वेद मानों माता के समान है, उनमें सभी के लिए व्यवस्था है। मांसाहारी से कहा गया कि केवल मांस के लोभवश पशु की हत्या न करो। उसे यज्ञ में बलि चढ़ाकर उसके मास को प्रसाद के रूप में ग्रहण करो। इस प्रकार मांसाहार की इच्छा तथा आदत को नियंत्रित करने का प्रयास किया गया। यही बात सुरापान के सम्बन्ध में भी कही गई। सुरा को देवताओं को चढ़ाने के बाद उसे प्रसाद के रूप में ग्रहण करो। इस प्रकार सुरापान की आदत भी नियंत्रित होगी। वेदमाता का तात्पर्य यह है कि तुम अपनी इन वृत्तियों को भी ईश्वराभि-मुख कर उनका सदुपयोग कर सकते हो।

श्रीरामकृष्णदेव के एक गृही भक्त थे श्री गिरीश घोष। वे मद्यप और दुराचारी थे। यहाँ तक कि जब वे श्रीरामकृष्ण के पास आते तब भी साथ में अपनी घोड़ागाड़ी में शराब की बोतल लेकर आते तथा उनसे बातचीत के दौरान, "थोड़ा बाहर से आता हूँ" कहकर गाड़ी में जाते और दो चार घूँट पीकर फिर श्रीरामकृष्ण के पास लौट आते। एक दिन इसी प्रकार थोड़ी देर बातचीत होने के पश्चात् जब गिरीश उठकर बाहर जाने लगे तभी श्रीरामकृष्ण ने कहा— बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है, तुम्हारे लिए यहीं पर प्रबन्ध

किया गया है । यह कहकर उन्होंने अपने भतीजे को पुकारा और उसने शराब की एक बोतल लाकर गिरीश बाबू के सामने रख दी । गिरीश मानों आकाश से गिरे ! यह जानकर भी कि मैं शराब पीता हूँ, श्रीरामकृष्ण मुझसे प्यार करते हैं ! सभी लोग मुझे शराबी और दुराचारी कहते हैं ! किन्तु ये सब कुछ जानते हुए भी मुझसे प्यार करते हैं ।

भक्तों ने श्रीरामकृष्ण से कहा कि महाराज गिरीश मद्यप है, दुराचारी है, उसे आप अपने पास मत आने दीजिए । श्रीरामकृष्ण देव ने कहा— देखो, सभी लोग उसकी निन्दा करते हैं, उसे बुरा-भला कहते हैं; यदि मैं भी उससे मुँह मोड़ लूं तो वह बेचारा कहाँ जायेगा? तुम लोग देखो तो सही, वह और कितनी शराब पियेगा! हम सभी जानते हैं कि गिरीश बाबू ने अपनी सारी बुरी आदतें छोड़ दीं और अन्त में एक आध्यात्मिक पुरुष हुए । इसीलिए भगवान ने भी गीता में कहा—'न बुद्धि भेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम—जो अज्ञानी व्यक्ति हैं, उनकी बुद्धि में भेद नहीं उत्पन्न करना चाहिए । बल्कि वे जहाँ हैं, वहीं से उन्हें ऊपर उठने में सहायता देनी चाहिए ।

भगवान अर्जुन को पुनः बताते हैं कि जो लोग अन्य देवताओं की उपासना करते हैं, उसका फल अस्थायी होता है—

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।।७/२३

तु (परन्तु) तेपाम् (उन) अल्पमेघसाम् (अल्पबुद्धि-वालों का) तत् (वह) फलम् (फल) अन्तवत् (नाशवान्) भवति (होता

है) देवयजः (देवताओं को पूजनेवाले) देवान् (देवताओं को) यान्ति (प्राप्त होते हैं) मद्भक्ताः (मेरे भक्त) माम् (मेरे को) अपि (ही) यान्ति (प्राप्त होते हैं)।

किन्तु अल्पबुद्धिवालों का वह फल नाशवान है। देवताओं को पूजने वाले लोग देवलोक में जाते हैं तथा मुझे पूजनेवाले भक्त मुझे ही प्राप्त करते हैं।

मुझे छोड़कर अन्य देवताओं की पूजा करने वाले लोग अल्पबुद्धि हैं, क्योंकि वे लोग जिन देवताओं की पूजा करते हैं, उनसे मिलनेवाला फल नाशवान होता है। वे शाश्वत फल को छोड़कर नाशवान फल के लिए प्रयत्न करते हैं, अतः वे अल्पबुद्धि तो हैं ही। क्योंकि भगवान का भजन करने वाले भक्त तो शाश्वत भगवान को ही पाते हैं। इसलिये भगवान को छोड़कर दूसरे को भजने वाले अल्पबुद्धि तो हैं ही। 'मामपि' के द्वारा भगवान यह सूचित करते हैं कि मेरा भजन करनेवाले अन्य फल तो पाते ही हैं, साथ ही वे मुझे भी पा जाते हैं। किन्तु फिर भी लोग देवताओं की पूजा क्यों करते हैं ? मानो इसके उत्तर में ही भगवान कहते हैं––

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।७/२४।।

अबुद्धयः (बुद्धिहीन लोग) मम (मेरे) अनुत्तमम् (सर्वश्रेष्ठ) अव्ययम् (अविनाशी) परम् (परम) भावम् (भाव को) अजानन्तः (न जानते हुए) अव्यक्तम् (इंद्रियातीत) माम् (मुझे) व्यक्ति आपन्नम् (मनुष्यरूप में आविर्भूत) मन्यते (मानते हैं)।

अज्ञानी लोग ही मेरे अक्षय, सर्वश्रेष्ठ महान भाव को न जानकर मुझ अव्यक्त संसार से परे को मनुष्य रूप में आविर्भूत हुआ समझते हैं।

साधारण लोग अन्यान्य देवता आदि का आश्रय क्यों लेते हैं ? इसका कारण बताते हुए भगवान कहते हैं— अबुद्धयः अर्थात् अपरिपक्व बुद्धि वाले लोग मेरे निर्गुण निराकार अक्षर स्वरूप को न जानकर यही समझते हैं कि मैं भी अन्य व्यक्तियों के समान एक व्यक्ति के रूप में ही उत्पन्न हुआ हूँ । अतः साधारण व्यक्ति के समान ही मेरा भी जन्म-मरण है । मेरी भी शक्ति उन्हीं के समान सीमित है । यही सोचकर वे लोग अन्य देवताओं की शरण लेते हैं । यहाँ यह बात भगवान मानो यह बताने के लिये कह रहे हैं कि ईश्वर भी मनुष्य के रूप में, व्यक्ति के रूप में अवतार लेते हैं । जैसे श्रीरामकृष्ण के समय में कितने कम लोगों ने उन्हें पहचाना था । भगवान श्रीरामचन्द्र के विषय में श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि वनवास के समय ऋषि-मुनियों ने रामचन्द्रजी का अभिवादन करते हुए कहा था कि हे राम ! कई लोग तुम्हें अवतार कहते हैं, किन्तु हम तो जानते हैं कि तुम दशरथ के पुत्र हो । रामचरितमानस में आता है—पार्वतीजी भगवान शिव से प्रश्न करती हैं, "जौ नृप तनय तो ब्रह्म किमी नारिविरह मति भोरि । देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि ।"— आप किन राम की उपासना करते हैं ? राजा दशरथ के पुत्र ? ये राजा के पुत्र भला ब्रह्म कैसे हो सकते हैं ? यदि वे ब्रह्म थे तो नारी के विरह में उनकी मति कैसे मारी गयी । वे वृक्ष-लता-गुल्मों से, हिरणों से अपनी पत्नी का पता पूछ रहे हैं । यदि राम ब्रह्म थे तो वे सर्वज्ञ होते । सर्वज्ञ होकर उनकी मति भला इस प्रकार कैसे मारी गयी ? वे कहती हैं, "ब्रह्म जो व्यापक विरज अज अकल अनीह अभेद । सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत

बेद ।।"—— जो ब्रह्म व्यापक है, अजन्मा है, अभेद है, जिसे वेद नेति नेति कह कर सम्बोधित करते हैं, भला वह ब्रह्म भी क्या मनुष्य के रूप में जन्म ले सकता है ? रामचरित मानस में इस शंका का बड़ा ही सुन्दर निराकरण किया गया है। उसी प्रकार गीता में भी भगवान इस शंका का समाधान करते हुए हमें बताते हैं कि लोग क्यों उन्हें नहीं जान पाते । वे कहते हैं——

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।
मूढोऽमयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।७/२५

अहम् (मैं) योगमायासमावृतः (योग माया से ढँका हुआ) सर्वस्य (सबके समक्ष) प्रकाशः (प्रगट) न (नहीं होता) अयम् (यह) मूढः (मूर्ख) लोकः (मनुष्य) माम् (मुझ) अजम् (जन्म रहित) अव्ययम् (अविनाशी को) न (नहीं) अभिजानाति (जानता है) ।

मैं अपनी योगमाया से ढँका रहता हूँ, इसीलिये सबके सामने व्यक्त नहीं होता तथा इसी कारण अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्मरहित परमात्मा को नहीं जान पाता ।

माया से हम सभी लोग परिचित हैं। भगवान अपनी जिस शक्ति से इस माया का परिचालन करते हैं उस शक्ति को योग कहते हैं। जैसे एक जादूगर। वह अपनी जादूगरी के द्वारा जादू के विभिन्न खेल दिखाता है। जादू के खेल को हम माया कह सकते हैं और जिस शक्ति से वह खेल दिखाता है उसे 'योग' कह सकते हैं। उसी प्रकार भगवान अपनी शक्ति द्वारा माया का विस्तार करते हैं। अपनी योगमाया की शक्ति से ढँके होने के कारण मूढ़ लोग उन्हें जान नहीं पाते । लोग तो यही सम-

झते हैं कि वे भी जन्म लेने तथा मरनेवाले एक साधारण जीव हैं।

तब क्या माया से ढँके रहने के कारण भगवान स्वयं भी अज्ञ हैं ? नहीं, ऐसा नहीं है। भगवान स्वयं उस माया से प्रभावित नहीं होते। वे तो सर्वदा सर्वज्ञ ही हैं। माया का प्रभाव तो केवल जीवों पर ही पड़ता है। इसलिए भगवान कहते हैं——

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।।७/२६

अर्जुन (हे अर्जुन) अहं (मैं) समतीतानि (भूत) वर्तमानानि (वर्तमान) भविष्याणि च (और भविष्य के) भूतानि (प्राणियों को) वेद (जानता हूँ) तु (किन्तु) कश्चन (कोई भी) मां (मुझे) न वेद (नहीं जानता)।

हे अर्जुन ! मैं भूत, भविष्य और वर्तमान (तीनों कालों) के समस्त पदार्थ और प्राणियों को जानता हूँ, किन्तु मेरे यथार्थ स्वरूप को कोई नहीं जानता।

यही जीव और ईश्वर का अन्तर है। जीव माया से मोहाच्छन्न होकर, अज्ञान में डूबा हुआ है, किन्तु ईश्वर माया में रहकर भी माया से प्रभावित नहीं है। श्रीरामकृष्ण एक बड़ी सुन्दर उपमा से इस तत्त्व को समझाते हैं। वे कहते हैं——साँप के मुँह में विष रहता है। उस विष का स्वयं उस पर कोई प्रभाव नहीं होता, किन्तु साँप जिसे काटता है, वह व्यक्ति विष से प्रभावित हो जाता है। ठीक उसी प्रकार माया की शक्ति से अन्य सभी लोग मोहित हो जाते हैं, किन्तु भगवान स्वयं उस शक्ति से अछूते रहते हैं। इसीलिए भगवान कहते हैं कि मैं भूत,

भविष्य, वर्तमान सभी को जानता हूँ, पर मायाच्छन्न व्यक्ति नहीं जानता। माया का प्रभाव जीव पर इतना अधिक क्यों पड़ा? भगवान कहते हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप।।७/२७

भारत (हे अर्जुन) परंतप (शत्रुविनाशी) इच्छा-द्वेष-समुत्थेन (इच्छा और द्वेष से उत्पन्न) द्वन्द्वमोहेन (सुख-दुख आदि द्वन्द्वों से मोहित) सर्वभूतानि (समस्त प्राणी) सम्मोहं यान्ति (मोह को प्राप्त होते हैं)।

हे शत्रुतापन अर्जुन! इच्छा और द्वेष से उत्पन्न सुख-दुख आदि द्वन्द्वों से मोहित होकर समस्त प्राणी मोह को प्राप्त होते हैं।

माया से प्रभावित होने या मोहित हो जाने का कारण भगवान ने बता दिया—इच्छा और द्वेष के कारण ही यह द्वन्द्व और मोह होता है। द्वन्द्व क्या है? जब हम किन्हीं दो या अधिक बातों के सम्बन्ध में द्विविधा में पड़ जाते हैं, यह निश्चय नहीं कर पाते कि किसे छोड़ें और किसे ग्रहण करें। इस निश्चय कर पाने में असमर्थता का नाम ही द्वन्द्व है। इस द्वन्द के कारण हमारे मन में मोह उत्पन्न हो जाता है। व्यक्ति की आँखों पर इच्छाओं और द्वेष का चश्मा चढ़ जाता है। तब वह दूसरों के गुणों को, अच्छाइयों को देखने में असमर्थ हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को चरित्रवान सज्जनों में भी दोष ही दोष दीख पड़ता है। ऐसा व्यक्ति किसी की प्रशंसा नहीं सह पाता। दूसरों में दोष देखना, उनकी निन्दा करना केवल यही सब वह करने लगता है। इस दोष के कारण व्यक्ति स्वयं टूटने लगता है,

समाज विघटित होने लगता है। इसीलिये भगवान ने कहा 'इच्छाद्वेषसमुत्थेन, द्वन्द्वमोहेन भारत'-- इच्छा द्वेष तथा मोह में आबद्ध लोग बार-बार जन्म-मरण के चक्र में पड़कर दारुण दुख भोगते रहते हैं, किन्तु कुछ लोग ऐसे होते हैं जो इस द्वन्द्व-मोह से छूटना चाहते हैं, जन्म-मरण के चक्र से छूटना चाहते हैं। ऐसे लोग भगवान का भजन करते हैं। भगवान कहते हैं:—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥७/२८

येषां तु (किन्तु जिन) पुण्यकर्मणां (पुण्य कर्म करनेवाले) जनानां (लोगों का) पापं (पाप) अन्तगतं (नष्ट हो गया है) द्वन्द्व मोह-निर्मुक्ताः (द्वन्द्व और मोह से रहित) ते (वे) दृढ़व्रताः (दृढ़ निश्चयवाले) माम् (मेरा) भजन्ते (भजन करते हैं)।

किन्तु जिन पुण्य कर्म करनेवाले लोगों के पाप क्षय हो गये हैं, जो सुख-दुख आदि द्वन्द्वों और मोह से रहित हैं, वे दृढ़निश्चयी व्यक्ति मेरा भजन करते हैं।

इस द्वन्द्व मोह से कैसे मुक्त हुआ जाय? पुण्य कर्मणाम्—पुण्य कर्म अर्थात् सत्कर्म, अच्छे कर्म। निःस्वार्थ भाव से दूसरों के हित के लिए कर्म करना सत्कर्म है। गीता का कर्मयोग दो प्रकार का है। एक तो—सभी कर्म करते हुए ईश्वर का स्मरण करना 'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च— सर्वदा मेरा स्मरण करते हुए युद्ध कर'। दूसरा है—सर्वदा निस्वार्थ होकर कर्म करना। नाम-यश, प्रशंसा या किसी भी प्रकार का लाभ न लेना। केवल परार्थ— दूसरों के लिये, ऐसा कर्म भी कर्मयोग बन जाता है। यह कर्मयोग जीवन की सभी मलिनताओं को धो देता है।

और व्यक्ति मोहमुक्त हो जाता है। मोहमुक्त व्यक्ति का मन भगवान की ओर जाता है तथा वह दृढ़तापूर्वक भजन में लग जाता है। ऐसा व्यक्ति ज्ञानी-भक्त हो जाता है। यही बात भगवान यहाँ बताते हैं——

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्मतद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।।७/२९

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।।७/३०

ये (जो) जरा-मरण मोक्षाय (बुढ़ापा और मृत्यु से मुक्त होने के लिये) माम् (मुझे) आश्रित्य (आश्रय करके) यतन्ति (साधना करते हैं) ते (वे) तत्ब्रह्म (उस ब्रह्म को) कृत्स्नम् (समस्त) अध्यात्मम् (अध्यात्म विषय) अखिलं च (और सम्पूर्ण) कर्म (कर्म को) विदुः (जानते हैं)।

ये च (और जो लोग) स अधिभूत अधिदैवम् (अधिभूत और अधिदैव के साथ) स-अधियज्ञम् (अधियज्ञ के साथ) विदुः (जानते हैं) ते (वे) युक्तचेतसः (समाहित चित्तवाले) प्रयाणकाले अपि (मृत्यु के समय भी) माम् (मुझ वासुदेव को) विदुः (जानते हैं, स्मरण करते हैं)।

जो लोग बुढ़ापा और मृत्यु से छूटने के लिये मुझमें मन लगाकर साधन करते हैं, वे उस ब्रह्म, सभी अध्यात्म विषय तथा कर्म को जानते हैं।

और जो लोग अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के साथ मुझे जानते हैं वे समाहित चित्तवाले भक्त मृत्यु के समय भी मुझ वासुदेव को ही स्मरण करते हैं।

भगवान ने द्वन्द्व-मोह आदि का जो प्रकरण प्रारम्भ किया था। उसकी समाप्ति तो २८वें श्लोक तक हो

गयी। किन्तु भगवान ने यह। जरा-मरण आदि से मुक्ति का प्रसंग अर्जुन के बिना पूछे ही उठाया। यह इसलिए कि जरा-मरण की समस्या प्राणी मात्र की है। मनुष्य को सबसे अधिक कष्ट जरा और मरण से ही होता है। हम भले ही जन्म-मृत्यु का चक्र कहते हैं। किन्तु जन्म से कोई आतंकित नहीं होता। व्यक्ति आतंकित होता है बुढ़ापे से और मृत्यु से। मृत्यु के भय से तो हम सभी काँप उठते हैं। बुढ़ापे का भय भी हमें कम आतंकित नहीं करता। इसीलिए भगवान अर्जुन को जरा और मृत्यु से छूटने का उपाय बताते हैं कि जो लोग एकाग्र चित्त से भगवान का भजन करते हैं वे सनातन ब्रह्म को, कर्म को, अध्यात्म आदि सभी तत्त्वों को जान जाते हैं तथा मृत्यु के समय भी उन्हें भगवान का ही स्मरण रहता है। इस प्रकार अन्त में वे भगवान में ही लीन हो परमधाम को प्राप्त करते हैं।

सप्तम अध्याय की समाप्ति के इन श्लोकों से अर्जुन के मन में और भी कई प्रश्न उठे। आठवें अध्याय का प्रारम्भ ही अर्जुन के प्रश्नों से होता है।

○

लक्ष्यभेद

स्वामी सत्यस्वरूपानन्द

गंगापुत्र पितामह भीष्म कौरव और पाण्डवराजकुमारों को आचार्य द्रोण के हाथों सौंपकर निश्चिन्त हो गए। आचार्य भी परिश्रमपूर्वक राजकुमारों को अस्त्र-शस्त्र संचालन तथा युद्धविद्या की शिक्षा देने लगे। शिष्यगण भी निष्ठापूर्वक विद्याभ्यास करने लगे। धीरे-धीरे सभी राजकुमार अस्त्र-शस्त्र संचालन में निपुण होने लगे।

तब आचार्य ने शिष्यों की परीक्षा लेने का निश्चय किया। उन्होंने बढ़ई को बुलाकर काठ का एक पक्षी बनवाया। वह पक्षी देखने में जीते-जागते पक्षी के समान लगता था। उसे आचार्य ने एक ऊँचे वृक्ष की ऊपर की टहनी पर बिठवा दिया तथा दूसरे दिन शिष्यों को उस वृक्ष के निकट एकत्रित होने का आदेश दिया। शिष्यगण जब एकत्रित हो गए तब आचार्य ने उनसे कहा कि आज तुम लोगों की परीक्षा होगी। सामने के वृक्ष पर एक पक्षी बैठा है तुम्हें अपने बाण से उसका सिर भेदना है। मैं जिसे बुलाऊँ वह सामने आकर खड़ा हो जाए तथा निशाना साधे, फिर जब मेरी आज्ञा हो तब बाण चलाए।

आचार्य ने सर्वप्रथम युधिष्ठिर को बुलाया। जब युधिष्ठिर निशाना साधकर खड़े हो गए, तब आचार्य ने उनसे पूछा––वत्स ! तुम्हें क्या दीख रहा है ?

युधिष्ठिर ने कहा––गुरुदेव, मुझे वृक्ष, पक्षी, आप तथा सभी भाई दीख रहे हैं।

आचार्य ने असन्तोष के स्वर में कहा––रहने दो ! तुम यह लक्ष्य भेद नहीं सकते।

बारी-बारी से दुर्योधन, भीम आदि सभी आए किन्तु सबका एक ही उत्तर था। लक्ष्य के साथ-साथ उन्हें और भी अनेक वस्तुएँ दिखाई दे रही थीं। आचार्य असन्तुष्ट थे। उन्होंने किसी शिष्य को बाण चलाने की आज्ञा नहीं दी।

अब आचार्य की दृष्टि पृथापुत्र अर्जुन की ओर गयी। आचार्य ने उसे भी वही आदेश दिया। अर्जुन निशाना साधकर खड़े हो गए। कुछ क्षणों पश्चात् आचार्य ने अर्जुन से भी पूछा——वत्स ! तुम्हें क्या दीख रहा है ?

अर्जुन ने कहा——गुरुदेव ! मुझे तो पक्षी तथा बाण की नोक के अतिरिक्त और कुछ नहीं दीख रहा है।

आचार्य ने प्रसन्न होकर पुनः कहा——अपने लक्ष्य को ध्यानपूर्वक देखो।

अर्जुन ने और भी एकाग्रता से लक्ष्य की ओर देखा। कुछ क्षणों पश्चात् आचार्य ने फिर पूछा——वत्स ! अब तुम्हें क्या दीख रहा है ?

अर्जुन ने कहा——गुरुदेव पक्षी का सिर तथा बाण की नोक के अतिरिक्त मुझे और भी कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा है।

आचार्य द्रोण हर्ष उत्फुल्लित हो उठे। और उन्होंने अर्जुन को बाण चलाने की आज्ञा दे दी। बाण के छूटते ही पक्षी का मस्तक कटकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। अर्जुन ने लक्ष्य को भेद लिया था।

अन्य सभी भाई आश्चर्यचकित थे। कितनी सरलता से अर्जुन ने लक्ष्यभेद कर लिया था।

जीवन के क्रीड़ांगण में भी तो यही होता है। हममें से प्रत्येक एक प्रतियोगी ही तो है। जीवन की सफलता

और सार्थकता के लिए सभी को लक्ष्यभेद करना होगा। जो लोग लक्ष्यभेद करने में असफल रहेंगे उनका जीवन भी सफल और सार्थक न होगा।

आचार्य ने तो सभी राजकुमारों को एक साथ ही शिक्षा प्रदान की थी, पर एकमात्र अर्जुन ही क्यों लक्ष्य भेदन में सफल हुए? इसलिए कि अर्जुन को लक्ष्य तथा बाण की नोक के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दीख रहा था।

जीवन में सब प्रकार की शिक्षा तथा सुविधाएँ पाकर भी लोग परीक्षा की घड़ी में लक्ष्य क्यों नहीं भेद पाते? इसलिए कि लक्ष्य के साथ-साथ हमें वृक्ष, आचार्य, बन्धुगण और न जाने क्या-क्या दीख पड़ता है। लक्ष्य पर हमारी दृष्टि निबद्ध नहीं हो पाती और इसीलिए हम लक्ष्य को भेदने में समर्थ नहीं हो पाते। इस प्रकार लक्ष्य का भेद न कर सकने के कारण ही तो हम जीवन में सफल और सार्थक भी नहीं हो पाते।

क्रीड़ाङ्गण में लक्ष्य भेदन करने में समर्थ व्यक्ति जीवन संग्राम में भी सफलतापूर्वक लक्ष्यभेद कर लेता है। द्रुपदसुता की वरमाला अर्जुन के गले में इसीलिए पड़ सकी थी कि परीक्षा की घड़ी में अर्जुन को लक्ष्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दीख रहा था।

जयद्रथ का मस्तक छेदन कर उसका शीश उसके पिता की गोद में गिराकर स्वयं के मस्तक को शतखण्ड होने से बचाने में अर्जुन कैसे समर्थ हुए थे? इसीलिए कि अर्जुन को अपने लक्ष्य तथा उसे भेदने के साधन बाण की नोक के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दीख रहा था।

अर्जुन ऐसा करने में कैसे समर्थ हो सके थे ?

एक दिन की घटना है। अर्जुन रात्रि में भोजन कर रहे थे । उसी समय तेज हवा चली और भोजन कक्ष का दीपक बुझ गया । अर्जुन अंधेरे में ही भोजन करते रहे । अकस्मात् उनका ध्यान अपने हाथ और मुँह की ओर गया । अर्जुन सोचने लगे कि इस अन्धकार में भी मेरा हाथ भोजन का ग्रास ठीक मेरे मुँह में ही पहुँचा रहा है । वह तो इधर-उधर कहीं नहीं जाता । यह कैसे हो रहा है ? तभी उसके मन में बिजली की भाँति एक बात कौंध गई । यह तो बाल्यावस्था से किये गये अभ्यास का ही परिणाम है । तब क्यों न मैं रात के अँधेरे में भी बाण चलाने का अभ्यास करूँ। और उसी दिन से अर्जुन रात्रि में भी बाण चलाने का अभ्यास करने लगे ।

अभ्यास—निरन्तर अभ्यास और कठोर परिश्रम, यही अर्जुन की सफलता का रहस्य था । लक्ष्य पर दृष्टि रखकर निरन्तर अभ्यास करने के कारण ही अर्जुन लक्ष्य भेद में सफल हुए थे ।

जीवन की सफलता और सार्थकता के लिये केवल लक्ष्य स्थिर कर लेना ही पर्याप्त नहीं है । लक्ष्य स्थिर करने के पश्चात् उस पर सतत् दृष्टि बनाये रखना कहीं अधिक आवश्यक है । लक्ष्य का ध्यान बना रहे तो दृष्टि स्वाभाविक रूप से लक्ष्य प्राप्ति के साधनों की ओर भी जाने लगती है । मन सजग और सक्रिय हो उठता है । यह सक्रियता व्यक्ति को लक्ष्य भेदन की योग्यता प्रदान करती है और तब परीक्षा की घड़ी में व्यक्ति अनायास ही लक्ष्य का भेदन करने में समर्थ हो जाता है ।

यह सामर्थ्य सहज ही नहीं आ जाती। इसके लिये अर्जुन के समान कठोर परिश्रम और साधना के रूप में मूल्य चुकाना पड़ता है। सतत सावधान भी रहना पड़ता है। आत्म-निरीक्षण और आत्म-विश्लेषण करना पड़ता है। स्वयं के गुण-दोषों से अवगत होकर दोषमर्दन तथा गुणवर्धन का सतत प्रयत्न करना पड़ता है। प्रचण्ड पुरुषार्थ करना पड़ता है। और तब कहीं लक्ष्यभेद होता है।

महाभारत के विभिन्न प्रसंगों में मानव जीवन के चरम लक्ष्य की ओर संकेत किया गया है। हमारे मन में एक स्वाभाविक जिज्ञासा उठती है--जीवन का वह कौन सा लक्ष्य है जिसकी ओर हमें अपनी दृष्टि को निबद्ध करना है। हमारे ऋषियों ने मानव जीवन की इस समस्या का सम्पूर्ण एवं शाश्वत समाधान दिया है। मुण्डक उपनिषद में ऋषि कहते हैं—**लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य !**—"हे प्रिय वह 'अक्षर' ही लक्ष्य है।" फिर अपनी बात स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥४/२/२

--प्रणव या ॐकार ही धनुष है, आत्मा ही बाण है तथा ब्रह्म ही उसका लक्ष्य कहा जाता है। प्रमादरहित होकर उसे बींधना चाहिए तथा उस लक्ष्य में बाण के समान तन्मय हो जाना चाहिए।

ब्रह्मानुभूति ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। देहत्याग के पूर्व ही इस लक्ष्य को निश्चित रूप से प्राप्त कर लेना होगा और इसके लिये यह आवश्यक है कि हम अर्जुन के समान अन्य सभी विषयों से अपनी दृष्टि को हटाकर उसे इस लक्ष्य पर ही केन्द्रित करें।

प्रणव रूपी इस धनुष को दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना चाहिये अर्थात् दृढ़ विश्वास के साथ इस ॐकार मंत्र को अपनाना चाहिए, क्योंकि ॐकार रूपी धनुष ही आत्मा-रूपी बाण को लक्ष्य तक पहुँचाने का साधन है, अतः ॐकार मंत्र के प्रति दृढ़ विश्वास आवश्यक है।

आत्मा ही इस धनुष का बाण है। इस बाण में धार लगानी होगी, इसे पैना करना होगा। इसे पैना करने की पद्धति क्या है ?

ऋषि कहते हैं—— **उपासानिशितम्**——उपासना के द्वारा पैना किया हुआ। एकमात्र उपासना के द्वारा ही आत्मा-रूपी बाण को पैना किया जा सकता है।

यह उपासना क्या है ? आचार्य शंकर मुण्डक उपनिषद के अपने भाष्य में कहते हैं—— **सन्तताभिध्यानेन तनूकृतं**——निरन्तर ध्यान के अभ्यास द्वारा पैना किया हुआ अर्थात् निरन्तर प्रणव जप तथा ध्यान के अभ्यास द्वारा एकाग्र किए हुए मन के द्वारा प्रमादरहित होकर लक्ष्य को भेदना चाहिए। किस प्रकार भेदन करना चाहिए ? **शरवत्तन्मयो भवेत्**——बाण जिस प्रकार लक्ष्य में भिद जाता है, उसी प्रकार अपने इस एकाग्र मन को अपने लक्ष्य अर्थात् ब्रह्म में प्रविष्ट करके ब्रह्म के साथ मन को एकाकार कर लेना चाहिए, तन्मय हो जाना चाहिए।

वही लक्ष्यभेद है। जो व्यक्ति इस प्रकार जीवन के लक्ष्य को भेदने में सफल हो जाता है, उसी का जीवन सफल और सार्थक होता है। फिर अन्य जो भी व्यक्ति उसके सम्पर्क में आता है, लौह के स्पर्शमणि के साथ संसर्ग के समान उसका जीवन भी उन्नत हो जाता है।

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(स्वामी तुरीयानन्दजी भगवान श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख संन्यासी शिष्य थे। अपनी द्वितीय पाश्चात्य यात्रा के समय स्वामी विवेकानन्द उन्हें भी अपने साथ अमेरिका ले गये थे। फिर भारत लौटकर उन्होंने अधिकांश समय तपस्या में ही बिताया। उनके लेख तथा प्रवचनों के अनुलिखन दो-चार ही उपलब्ध होंगे। उनके आध्यात्मिक वार्तालाप हिन्दी में अनुदित होकर 'अध्यात्ममार्ग-प्रदीप' नामक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। महाराज के लगभग ३०० पत्र बंगला तथा अंग्रेजी में उपलब्ध हैं, जो बड़े ही ज्ञानगर्भित, प्रेरणादायी तथा साधकों के लिए उपयोगी हैं। उन्हीं पत्रों के चुने हुए अंशों के अनुवाद 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किये जायगे। –स.)

(१)

मैं जानता हूँ कि तुम सावधानीपूर्वक रहते हो, फिर भी वही बात तुम्हें बारम्बार याद दिलाने की आवश्यकता महसूस करता हूँ। इस बार तुम्हारे लिए अंग्रेज कवि लांगफेलो की एक पंक्ति उद्धृत करता हूँ, "Trust not future, howe'r pleasant !"–– भविष्य चाहे कितना भी मधुर क्यों न प्रतीत हो, उसमें विश्वास न करना। मन में सुख की इच्छा आने पर सदा इस उपदेश का स्मरण करना। तुम्हारी आयु अभी कम है और जगत् से तुम्हें काफी कुछ सीखना है। कभी ऐसा न सोचना कि तुम्हारे पास पर्याप्त बुद्धि है और जो लोग बिना किसी प्रत्याशा के तुम्हारे हिताकांक्षी एवं उन्नतिकामी हैं, उनके पास तुम्हारे सीखने योग्य कुछ भी नहीं है।

(२)

मैं जानता हूँ कि तुम फिजूलखर्च नहीं हो, तो भी तुम्हें सावधान कर देता हूँ, क्योंकि अभी तुम्हारी बुद्धि परिपक्व नहीं हुई है। इस पर दुखी न होना। शरीर को स्वस्थ एवं निरोग रखने के लिए जितना व्यय आवश्यक है, उतना अवश्य करना चाहिए, इसमें कंजूसी करना कदापि उचित नहीं है।

(३)

खूब सावधानीपूर्वक रहना। कभी न भूलना कि सावधान व्यक्ति का विनाश नहीं होता। सावधान को प्रारब्ध दु:खी नहीं कर सकता।

आजकल क्या पढ़-लिख रहे हो ? स्वाध्याय से कभी विरत न होना। आलस्य त्यागकर प्रतिदिन ध्यान –धारणा का अभ्यास अवश्य करना। पवित्र जीवन अत्यन्त दुर्लभ है–– इस पवित्रता की ओर विशेष दृष्टि रखना होगा। कभी अपने को निरापद न समझकर, सतत भगवान की शरण में पड़े रहना।

(४)

अपने स्वास्थ्य का विशेष ध्यान रखना, क्योंकि बारम्बार रोग से भुगतने में शक्तिक्षय न कर, उस शक्ति को भगवच्चिन्तन में लगाने से परम कल्याण होता है।

अपने भाव में डूबे रहना तथा सबकी भलाई सोचना। किसी के साथ भी वृथा वाद-विवाद या कलह करने की जरूरत नहीं। गीता पाठ कर रहे हो, सो बहुत अच्छी बात है। गीता समस्त शास्त्रों का सार है। गीता सुनकर अर्जुन सन्देहमुक्त हुए थे और जो कोई भी गीता का सेवन करेगा, वह निश्चय ही सारे सन्देहों से मुक्त हो जाएगा। तुम गीता का सेवन मत छोड़ना। (क्रमश:)

फार्म ४ रूल ८ के अनुसार

१. प्रकाशन का स्थान —रायपुर

२. प्रकाशन की नियतकालिकता —त्रैमासिक

३-५. मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक —स्वामी सत्यरूपानन्द

राष्ट्रीयता —भारतीय

पता —रामकृष्ण मिशन, रायपुर।

स्वत्वाधिकारी —रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ

स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी तपस्यानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी हिरण्मयानन्द, स्वामी सत्यघनानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी तत्त्वबोधानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी वागीशानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी भजनानन्द, स्वामी गौतमानन्द, स्वामी शिवमयानन्द।

मैं, स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर)

स्वामी सत्यरूपानन्द